ह्रीः

दुर्लभ बौद्ध ग्रन्थ शोध पत्रिका

Journal of Rare Buddhist Texts Research Project

27

दुर्लभ बौद्ध ग्रन्थ शोध योजना
केन्द्रीय उच्च तिब्बती शिक्षा संस्थान
सारनाथ, वाराणसी
1999

ध्हीः

दुर्लभ बौद्ध ग्रन्थ शोध पत्रिका

27

सम्पादक

एस० रिनपोछे
निदेशक

जनार्दन पाण्डेय
कार्यकारी योजना निदेशक



दुर्लभ बौद्ध ग्रन्थ शोध योजना
केन्द्रीय उच्च तिब्बती शिक्षा संस्थान
सारनाथ, वाराणसी

बुद्धाब्द २५४३ वैशाख पूर्णिमा ख्रीस्ताब्द १९९९

२७वाँ अंक, ५५० प्रतियाँ, १९९९

मूल्य : रु० ७५.००

प्रकाशक :

केन्द्रीय उच्च तिब्बती शिक्षा संस्थान,
सारनाथ, वाराणसी-२२१ ००७

मुद्रक :

शिवम् प्रिन्टर्स
सी० २७/२७३, इण्डियन प्रेस कालोनी
मलदहिया, वाराणसी-२२१ ००२

Dhīḥ

Journal of Rare Buddhist Texts Research Project

27

Editors

S. RINPOCHE
Director

JANARDAN PANDEY
Acting Project Director



RARE BUDDHIST TEXTS RESEARCH PROJECT
Central Institute of Higher Tibetan Studies
Sarnath, Varanasi

B.E. 2543 VAIŚĀKHA PŪRṆIMĀ C.E. 1999

Co-Editors

Thakur Sain Negi
Thinlay Ram Shashni
Tsering Dolkar
Vijay Raj Vajracharya

Banarsi Lal
Chhog Dorjee
Ranjan Kumar Sharma

Vol. xxvii, 550 copies, 1999

Price : Rs. 75.00

Published by:

Central Institute of Higher Tibetan Studies,
Sarnath, Varanasi-221 007

Printed by:

Shivam Printers
C.27/273, Indian Press Colony
Maldahia, Varanasi-221 002

धीः XXVII

विषयानुक्रमणी

•

बहवः शरणं यान्ति पर्वतांश्च वनानि च ।
आरामान् चैत्यवृक्षांश्च मनुष्या भयतर्जिताः ॥

न त्वेतच्छरणं श्रेष्ठं नैतच्छरणमुत्तमम् ।
नैतच्छरणमागम्य सर्वदुःखात् प्रमुच्यते ॥

यस्तु बुद्धं च धर्मं च सङ्घं च शरणं गतः ।
चत्वारि चार्यसत्यानि पश्यति प्रज्ञया यदा ॥

दुःखं दुःखमनुत्पादं दुःखस्य समतिक्रमम् ।
आर्यं चाष्टाङ्गिकं मार्गं क्षेमं निर्वाणगामिनम् ॥

एतद्धि शरणं श्रेष्ठमेतच्छरणमुत्तमम् ।
एतच्छरणमागम्य सर्वदुःखात् प्रमुच्यते ॥

(उद्धृतम्- अभिधर्मकोशभाष्ये)

भगवत्स्तुतिः

[भद्रकल्पावदान में देवताओं द्वारा भगवान् बुद्ध की स्तुतियाँ दी गई हैं जिनमें 6 स्तुतियाँ अन्यत्र प्रकाशित हो चुकी हैं। स्ववैंद्यों (अश्विनीकुमारों) द्वारा दी गई स्तुति यहाँ दी जा रही है। दूसरा स्तोत्र अचल स्तुति है। बौद्ध वाङ्मय की श्रीवृद्धि में आचार्य वनरत्न का महत्त्वपूर्ण स्थान है। वसन्ततिलक आदि उच्चकोटि के ग्रन्थों पर उनकी टीकाएँ उपलब्ध हैं। उन्हीं की कृति यह अचल स्तुति यहाँ प्रस्तुत है।]

वन्दे मुनीन्द्रसुगतं षडभिज्ञनाथं
सम्बोधिपारगमितं जनपालनार्थम् ।
दानादिपारमितसंज्ञदशार्णवेषु
सम्बोधिरत्नमसमं भवताभिरब्धम् ।। 1।।

वन्दे हरीन्द्रकमलासनशङ्कराद्यै-
र्देवैः सदार्चितपदाम्बुजवन्दनीयम् ।
द्वात्रिंशलक्षणविभूषितदेहयष्टि-
मेकैकरोमगलितोज्ज्वलरश्मिजालम् ।। 2।।

वन्दे त्रिलोककमनीयसुदिव्यरूपं
रागादिदोषमलमानकृशानुकूपम् ।
संजातशाक्यकुलमानितसर्वभूपं
कस्तूरिचन्दनसुधूपितसर्वधूपम् ।। 3।।

वन्दे त्रिधातुपरिपालनदक्षभूतं
सम्पूर्णचन्द्रगतकोटिसुनिर्मलाभम् ।
अज्ञानतामसविनाशनकोटिसूर्यं
संवादितामरगणाविरताभितूर्यम् ।। 4।।

वन्दे भवार्णवमहच्चतुरुत्तरङ्ग-
तारैकसेतुमपवर्गशुभैकहेतुम् ।
हर्यक्षकेतुकुलिशासनशान्तमूर्तिं
जातादिदुःखत्रयमोचनसुप्रतिज्ञम् ।। 5।।

वन्दे वसन्तसमयेऽपि न कामरागो
यस्मिन् मधुव्रतपिका विलसन्ति मत्ताः।
यस्मिन् महर्षिगणमानसविभ्रमाश्च
यस्मिन् वसन्तसमये तिलकं प्रफुल्लम् ॥6॥

वन्दे वधूजनवृतः प्रमदाभिधाने
पित्राज्ञयाऽनुचरसारथिसंयुतश्च ।
गत्वा चकार निजमानससंप्रकाश-
मुन्मत्तकामिनिजनैर्वशितुं न शेके ॥7॥

वन्दे च येन चतुरादिसहस्त्रसंख्या-
श्चाशीतिभिः परिमिताः प्रमदाभिरूपाः।
त्यक्त्वा च युक्तकृतमेव नुता अयोग्या
एतादृशे ललितरूपसुधारकाय ॥8॥

बोध्यर्थिना च जगतां प्रतिपालनार्थं
नैरञ्जनातटवरे महदुत्तताप ।
कोलं फलं प्रतिदिनं तिलतण्डुलं च
आस्फानकं प्रचलितं सततं भजामि ॥9॥

वन्दे जरारुजजनुर्मरणादिक्रान्तान्
धर्मामृतैकपरपेयरसायनेन ।
स्वस्थं चकार सकलं ससुरासुरं च
एतादृशं सकलदुःखहरैकवैद्यम् ॥10॥

स्ववैंद्यनिर्मितमिदं स्तवकानवद्यं
संपठ्यते सकलपापहरं च येन (यैस्तु) ।
तेषां कदापि विपदो नहि सातुराश्च
माङ्गल्यनिर्मलसुखं च भव(ज)न्ति मोक्षम् ॥11॥

इति श्रीभद्रकल्पावदाने स्ववैंद्यकृता भगवत्स्तुतिः समाप्ता।

•

अचलस्तोत्रम्

श्रीमदेकल्लवीराय सर्वसत्त्वोपकारिणे ।
नमो विघ्नान्तसंहारकायत्रयैकमूर्त्तये ।। 1 ।।

करेणोद्धृतगङ्गाय सव्येनोपायभावतः ।
वामे प्रज्ञाङ्गभावाय तर्जनासक्तपाशिने ।। 2 ।।

सप्तपातालपालार्थमधो वामाक्षदर्शिने ।
सप्तब्रह्माण्डपालत्वान्नमः सव्योर्ध्वदर्शिने ।। 3 ।।

भूमौ तद्रक्षणत्वाच्च विन्यस्तवामजानवे ।
मारप्रहाणसंस्थानसव्यपादाय ते नमः ।। 4 ।।

नमस्तेऽक्षोभ्यनाथाय तदङ्करत्नमौलिने ।
विचित्राम्बरभूषाय समापद्द्वयवज्रिणे ।। 5 ।।

विध्वस्ताम्भोजजन्मेन्द्रदैत्यारिशूलपाणये ।
नमः श्रीचण्डरोषाय लक्षार्काधिकरश्मये ।। 6 ।।

शून्यतोक्ताऽप्यकारेण चकारेण महासुखम् ।
लकारेणानयोरैक्यं तस्मान्नमोऽस्तु तेऽचल ।। 7 ।।

द्विरष्टकलसम्पूर्ण विलक्षक्षणसम्भव ।
विरागेणाप्यचालत्वादस्मादपि नमोऽस्तु ते ।। 8 ।।

विरागश्चण्डताध्यातो मारमात्तस्य रोषणम् ।
सौख्यराजोदयस्तस्मात् नमस्ते चण्डरोषण ।। 9 ।।

अस्तं यस्योदये यान्ति विषयाः सार्धमिन्द्रियैः ।
निष्पन्नानन्दरूपाय तत्तुभ्यं शिरसा नमः ।। 10 ।।

सर्वाकारवरोपेतमहामुद्राक्षरात्मने ।
दर्पणप्रतिसेनावदवभासाय ते नमः ।। 11 ।।

स्तुत्वा त्वामद्य संस्तुत्य दुर्ल्लक्ष्यत्वनिरञ्जनात् ।
प्राप्तं पुण्यं मया यत्तु भूयात्तेनाचलो जिनः ।। 12 ।।

इत्यचलस्य क्रमद्वयस्तोत्रं समाप्तम्।

कृतिराचार्यवनरत्नपादानामिति ।



दुर्लभ ग्रन्थ परिचय

—जनार्दन पाण्डेय—

[प्रस्तुत अंक में निम्नांकित पाँच अवदान संग्रहों का परिचय दिया जा रहा है—

1. अवदानसंग्रह
2. अवदानमाला
3. भद्रकल्पावदान
4. अवदानरत्नमाला
5. अशोकावदानमाला]

बौद्ध वाङ्मय में अवदान साहित्य का विशाल भण्डार है, यहाँ अवदान का अर्थ है पवित्र एवं उदात्त चरित। जातकों की भाँति भगवान् बुद्ध के अनेक जन्मों के उदार-चरित्रों का इनमें वर्णन है और उन्होंने जिस व्यक्ति के माध्यम से लोकोपकारक उपदेश दिये हैं उसी के नाम से वह अवदान प्रसिद्ध है। ये अवदान प्रायः शुद्ध संस्कृत भाषा में लिखे गये हैं, अपभ्रंश या सन्ध्या भाषा इनमें नहीं पाई जाती।

यद्यपि तन्त्र विषय का इन अवदानों से विशेष सम्बन्ध नहीं है, परन्तु दुर्लभ बौद्ध ग्रन्थ शोध योजना के संस्थापक स्व० जगन्नाथ उपाध्याय जी का कहना था कि स्तोत्रों और चर्याओं की तरह ही जातकों और अवदानों का भी बौद्ध शोधकर्ताओं के लिए अत्यन्त महत्त्व है, अतः यदा-कदा इनका परिचय भी 'धीः' पत्रिका में आना चाहिये।

अवदानों की संख्या अनन्त है, अवदानशतक, अवदान कल्पलता आदि अनेक संग्रह रूप में तथा अनेकों प्रकीर्ण रूप में प्रकाशित हो चुके हैं। अपने सीमित साधनों के कारण हमारे लिये सम्भव नहीं है कि हम अवदानों की कुल संख्या का आकलन और प्रकाशित-अप्रकाशित का निर्णय कर उनका परिचय दे सकें। फिलहाल शान्तरक्षित ग्रन्थालय में उपलब्ध 5 अवदान संग्रहों का विवरण इस अंक में दे रहे हैं। इनमें भी विस्तारभय से अवदानों के नामों की ही सूचना मात्र है, उनकी विषय-वस्तु का परिचय नहीं।

1. अवदान संग्रह

ग्रन्थ—अवदान संग्रह

संख्या—3/286

पत्रसंख्या—1-347, **पंक्ति प्र० प०**—10, **अक्षर प्र० पं०**—68

आधार—नेपाली कागज, **लिपि**—नेवारी, **पूर्ण**।

प्रारम्भ

ॐ नमः श्रीसमन्तभद्राय सर्वबुद्धबोधिसत्त्वेभ्यो नमः ।

यः श्रीमान् भगवान् बुद्धो लोके धर्मामृतं ददौ ।
जयन् दुःशासनान्यस्य पादौ वन्दे सदा नतः ।।

पुरा भागीरथीतीरे पाटलिपुत्रसंज्ञिता ।
आसीद् या नगरी श्रेष्ठा विस्तीर्णा वासनावती ।।

अन्त

एतच्चन्द्रावदानं प्रमुदितमनसा संज्ञितं संस्मरन्तः
श्रुत्वा सम्भावयन्ति प्रतिदिनमनिशं बोधयन्तोऽप्यसाधून् ।
तर्जित्वा क्लेशसंघान् सुविमलमनसा बोधिसत्त्वाः सुधीराः
मैत्रीयं बोधिनाथं तुषितभुवनगा नित्यमेवं भजन्ति ।।

विवरण

इस ग्रन्थ की माइक्रोफिल्म कॉपी राष्ट्रीय अभिलेखालय काठमाण्डू, नेपाल से शान्तरक्षित ग्रन्थालय में प्राप्त हुई है, उसी के आधार पर यह विवरण दिया जा रहा है।

पुष्पिका

भिन्न-भिन्न हैं जो आगे दी गई हैं—

1.	इति	सुन्दरावदानं समाप्तम्	पत्र	1-6
2.	,,	पूर्णभद्रावदानं समा०	,,	6-10

2. अवदानमाला

ग्रन्थ—अवदानमाला

संख्या—3/642

पत्रसंख्या—164, **पंक्ति प्र० प०**—13, **अक्षर प्र० पं०**—44

आधार—नेपाली कागज, **लिपि**—देवनागरी, **पूर्ण** ।

प्रारम्भ

ॐ नमः सर्वबुद्धबोधिसत्त्वार्हत्संघेभ्यः

यः श्रीमान् भगवाञ्छास्ता महाबुद्धो मुनीश्वरः ।
तस्याहं शरणे स्थित्वा वक्ष्यामि तत्सुभाषितम् ।।

नत्वा तं जगदीशानं धर्मं वक्ष्ये जगद्धितम् ।
तद्यथाऽभून्महाभिज्ञो जयश्रीर्यः सुधीर्यतिः ।।

अन्त

श्रुत्वावदानं तदुपोषधाख्यं गच्छन्ति ये संवरपुण्यकामाः ।
ते पुण्यरत्नैः परिभूषिताङ्गाः प्रयान्ति नूनं सुगतालयं भोः ।।

पुष्पिका

आगे दी गई हैं।

विवरण

इस ग्रन्थ की माइक्रोफिल्म कॉपी राष्ट्रीय अभिलेखालय काठमाण्डू, नेपाल से शान्तरक्षित ग्रन्थालय में प्राप्त हुई है, जिसके आधार पर विवरण दिया जा रहा है।

विषयवस्तु

निम्नांकित पुष्पिकाओं से ग्रन्थ की विषयवस्तु स्पष्ट है—

1.	इत्यवदानमालायां	काशिकवस्त्रप्रदानपरिवर्तो नाम	प्रथमोऽध्यायः	पत्र	1–5
2.	"	ब्राह्मणावदानपरिवर्तो नाम	द्वितीयोऽध्यायः	"	5–7
3.	"	रोहितमत्स्यजातकपरिवर्तो नाम	तृतीयोऽध्यायः	"	7–10

28.	इत्यवदानमालायां	कपिशावदानं (1-9 अध्याया:) नाम	सप्तविंशोऽध्याय:	पत्र	245-270
29.	"	चैत्यव्रतानुशंसायां लक्षचैत्यसमुत्पत्तिर्नामैकोनत्रिंशतितमोऽध्याय:		"	270-274
30.	"	शिविराजचक्षु:प्रदानावदानं नाम	त्रिंशतितमोऽध्याय:	"	274-281
31.	"	श्रोणकोटीयावदानं नाम	एकत्रिंशतितमोऽध्याय:	"	281-296
32.	"	दुर्धनाख्यचक्रवर्तिराजावदानं नाम	द्वात्रिंशतितमोऽध्याय:	"	296-303
33.	"	यक्षजन्मावदानं नाम	त्रयस्त्रिंशतितमोऽध्याय:	"	303-311
34.	"	सुसिद्धार्थमतिसार्थवाहावदानं नाम	चतुस्त्रिंशतितमोऽध्याय:	"	311-320
35.	"	सुधनकुमारावदानं नाम	पञ्चत्रिंशतितमोऽध्याय:	"	320-336
36.	"	वसिष्ठपरिपृष्टपोषधावदानं नाम	षट्त्रिंशतितमोऽध्याय:	"	336-346

3. भद्रकल्पावदान

ग्रन्थ—भद्रकल्पावदान
संख्या—MBB-1974-8
पत्रसंख्या—448, **पंक्ति प्र० प०**—7, **अक्षर प्र० पं०**—57
आधार—नेपाली कागज, **लिपि**—नेवारी, दे० ना०, **पूर्ण** ।

प्रारम्भ

ॐ नमो रत्नत्रयाय, ॐ नमो भगवते शाक्यमुनये महाबौद्धाय।
नमोऽतीतानागतप्रत्युत्पन्नेभ्य:

नत्वा श्रीमत्त्रिरत्नं त्रिभवहितकरं सर्वलोकैकबन्धुं
जित्वा क्लेशान् समारानमलपददं मोक्षसौख्यैकमार्गम् ।
वक्ष्ये श्रीशाक्यराजस्वपुरगतकथासुन्दरं मोक्षहेतुं
चातुर्वर्गाभिकांक्षा: गृणत बुधजना भद्रकल्पावदानम् ।। 1 ।।

जयश्री: पुनरुत्थाय समाधेर्बोधिमण्डपे ।
व्याख्यातुं श्रैघनी धर्म्या विजहार ससांघिक: ।। 2 ।।

अन्त

इत्येवमुक्त्वा जिनराजकल्पो ध्यानाश्रितोऽभूदुपगुप्तभिक्षु: ।
लक्षास्तथाष्टादशभिक्षुकाणां ध्यानेषु लीना: परितस्थुरेवम् ।।

ततस्तथाऽशोकमहीमहेन्द्रः सामान्यलोकः पुरमाविवेश ।
नत्वा च तान् भिक्षुगणान् समर्च्य भूयोऽभिलाषी श्रवणे सुनाम्ये।।

पुष्पिका

इति भद्रकल्पावदानेऽशोकोपगुप्तसंवादे सकलानन्दाभिषेक-
शुद्धोदनतपोवनाभिगमनं नामोनत्रिंशतितमोऽध्यायः समाप्तः।
(इसके बाद 13 श्लोकों में ग्रन्थ की अनुशंसा है।)

विवरण

इस ग्रन्थ की माइक्रोफिल्म इन्स्टीट्यूट फॉर एडवांस स्टडीज ऑफ वर्ल्ड रिलीजन्स न्यूयार्क से शान्तरक्षित ग्रन्थालय में प्राप्त हुई है, जिसके आधार पर विवरण दिया गया है।

इस विशाल ग्रन्थ में शाक्यराज के स्वपुरगमन तक का चरित्र राजा अशोक और उपगुप्त के संवाद रूप में वर्णन किया गया है। इसके ग्रन्थकार का नाम सम्भवतः जयश्री प्रतीत होता है, इसकी विषयवस्तु प्रत्येक अध्याय की पुष्पिकाओं से स्पष्ट होती है, जो इस प्रकार हैं—

1.	इति श्रीभद्रकल्पावदाने ब्रह्मादिस्तुतिस्वपुरप्रत्यागमनप्रस्थानं नाम प्रथमोऽध्यायः समाप्तः					पत्र	1-11
2.	"	"	यशोधरागर्भसंरक्षणो नाम		द्वितीयो०	"	11-21
3.	"	"	देवदत्तकामलोभोन्मत्तभूतो नाम		तृतीयो०	"	21-31
4.	"	"	अशोकोपगुप्तसंभाषणे गोपातीर्थप्रवर्तनो नाम		चतुर्थो०	"	31-50
5.	"	"	अशोको० गोपाप्रत्यागमनो नाम		पञ्चमो०	"	50-56
6.	"	"	"	गोपाग्निपातनं नाम	षष्ठमो०	"	56-64
7.	"	"	"	गोपाभृगुपातनं नाम	सप्तमो०	"	64-72
8.	"	"	"	गुर्विणीयशोधरायशः प्रकाशनं नाम	अष्टमो०	"	72-77
9.	"	"	"	यशोधरायाः पुत्रजननं नाम	नवमो०	"	77-87
10.	"	"	"	त्रिंशत्पौष्टिकप्रव्रज्याचरणपरिवर्तः	दशमो०	"	87-91
11.	"	"	"	त्रिंशद्या... प्रव्रज्याचरणं नाम	एकादशो०	"	91-92
12.	"	"	"	मैत्रायणीपुत्रप्रव्रज्याचरणपरिवर्तो नाम	द्वादशो०	"	92-96
13.	"	"	"	नालकमुनिचर्याव्रताचरणपरिवर्तो नाम	त्रयोदशो०	"	96-109

36. इति	भद्रकल्पा०	अशोकोप०	सकलानन्दजन्मराहुलभद्रप्रव्रज्याव्रत-चारणं नाम सप्त(षट्)त्रिंशो०	पत्र 422-431
37. "	"	"	सम्बुद्धधर्मानुभावपरिवर्तो नाम अष्ट(सप्त)त्रिंशो०	" 431-441
38. "	"	"	सकलानन्दाभिषेकशुद्धोदनतपोवनाभिगम-परिवर्तो नाम एकोनचत्वारिं(अष्टत्रिं)शो०	" 441-447

4. अवदानरत्नमाला

ग्रन्थ—अवदानरत्नमाला

संख्या—3/596

पत्रसंख्या—138, **पंक्ति प्र० प०**—13, **अक्षर प्र० पं०**—42

आधार—नेपाली कागज, **लिपि**—देवनागरी, **पूर्ण** ।

प्रारम्भ

ॐ नमः श्रीसर्वबुद्धबोधिसत्त्वेभ्यः

यः श्रीमान् सुगतो बुद्धः सद्धर्मदेशको जिनः ।
शासनानि त्रिलोकेषु जयन्तु तस्य सर्वदा ।।

पुराऽऽसीत्पाटलीपुत्रे नगरे स्वर्गसन्निभे ।
अशोको नृपराजेन्द्रस्त्रिरत्नसेवकः सुधीः ।।

अन्त

नन्दस्य मात्सर्यप्रसादवृत्तिरिदं मुनीन्द्रप्रथितावदानम् ।
सत्कृत्य श्रद्धानुगुणाभिरक्ता शृण्वन्ति ये श्रावयन्तीह ये च ।।

सर्वेऽपि ते पुण्यगुणानुरक्ताः शुभाशयाः सत्त्वहितानुचाराः ।
सर्वाणि क्लेशानि निहत्य सौख्यं मुक्त्वा व्रजन्ते सुगतालयं ते ।।

पुष्पिका

इति रत्नमालावदाने नन्दावदानं नाम चतुर्विंशः।

विवरण

इस ग्रन्थ की माइक्रोफिल्म कॉपी राष्ट्रीय अभिलेखालय काठमाण्डू, नेपाल से शान्तरक्षित ग्रन्थालय में प्राप्त हुई है जिसके आधार पर विवरण दिया गया है, इसकी विषयवस्तु निम्नांकित पुष्पिकाओं से स्पष्ट है—

1.	इति श्रीरत्नमालावदाने		कौशीद्यवीर्योत्साहनो नाम प्रथमः	पत्र	1–8
2.	"	"	स्नातावदानं नाम द्वितीयः	"	8–15
3.	"	"	चक्रावदानं नाम तृतीयः	"	15–22
4.	"	"	प्रेतिकावदानं नाम चतुर्थः	"	22–28
5.	"	"	शालपुष्पावदानं नाम पञ्चमः	"	28–31
6.	"	"	सूकरी-अवदानं नाम षष्ठः	"	31–34
7.	"	"	वपुष्मान् कुमारो नाम सप्तमः	"	34–39
8.	"	"	देवपुत्रप्रश्नोत्तरो नाम अष्टमः	"	39–41
9.	"	"	शुक्लावदानं नाम नवमः	"	41–48
10.	"	"	हिरण्यपाण्यवदानं नाम दशमः	"	48–55
11.	"	"	हस्तकावदानं नाम एकादशः	"	55–60
12.	"	"	सार्थवाहावदानं नाम द्वादशः	"	60–70
13.	"	"	प्रशान्तकरुणावदानं नाम त्रयोदशमः	"	70–79
14.	"	"	दशशिरावदानं नाम चतुर्दशमः	"	79–88
15.	"	"	प्रेतिकावदानं नाम पञ्चदशमः	"	88–91
16.	"	"	कनकावदानं नाम षोडशमः	"	91–95
17.	"	"	वस्त्रावदानं नाम सप्तदशमः	"	95–102
18.	"	"	बलवत्कुमारावदानं नामाष्टादशमः	"	102–107
19.	"	"	वडिकावदानं नाम ऊनविंशतितमोऽध्यायः	"	107–114
20.	"	"	गान्धर्विकावदानं नाम विंशतिमः	"	114–120
21.	"	"	पञ्चवार्षिकावदानं नाम एकविंशतितमः	"	120–125
22.	"	"	नहीं है		
23.	"	"	निर्मलावदानो नाम त्रयोविंशतिमः	"	125–133
24.	"	"	नन्दावदानो नाम चतुर्विंशतिमः	"	133–139

5. अशोकावदानमाला

ग्रन्थ—अशोकावदानमाला

संख्या—3/200

पत्रसंख्या—198, **पंक्ति प्र० प०**—15, **अक्षर प्र० पं०**—63

आधार—ने० का०, **लिपि**—नेवारी, **पूर्ण** ।

प्रारम्भ

नम: सर्वबुद्धार्यबोधिसत्त्वसंघेभ्य:

य: श्रीमांल्लोकनाथस्त्रिभुवननिलये मारसैन्यान् विजित्य
लोकानां पुण्यहेतो: सततशुभकरीं बोधिचर्यां दिदेश ।
तं बुद्धं शाक्यसिंहं सकलगुणनिधिं श्रीघनं बोधिराजं
नत्वाऽशोकावदानं सकलहितकरं बोधिहेतो: प्रवक्ष्ये ।।

येनैव त्रिजगल्लोकं पालितं पुत्रवत्सदा ।
जयन्तु शासनान्यस्य मुनीन्द्रस्य जगद्गुरो: ।।

अन्त

एवं जयश्रीर्मुनिराजकल्प: सम्बोधिचर्याप्रविकासहेतो: ।
सर्वान् स्वशिष्यान् प्रतिबोधयन् स: प्राज्ञादिदेश स्ववदानमालाम् ।।

श्रुत्वा च ते सर्व उदारचित्ता: शिष्या: सलोका अनुमोदमाना: ।
सद्धर्ममाश्रित्य सदा त्रिरत्नभक्ता भजन्ति स्म सदाऽप्रमादै: ।।

पुष्पिका

अशोकावदानमाला समाप्ता

विवरण

इस ग्रन्थ की माइक्रोफिल्म राष्ट्रीय अभिलेखालय काठमाण्डू, नेपाल से शान्तरक्षित ग्रन्थालय में प्राप्त हुई है जिसके आधार पर यह विवरण दिया गया है। इसमें वर्णित अवदानों की पुष्पिकाएँ इस प्रकार हैं--

1.	इत्युपगुप्तावदानम्	पत्र	1–17
2-3.	इत्यशोकदमनावदानं समाप्तम्	''	17–40
4.	इत्यशोकनृपतिपांशुप्रदानावदानं समा०	''	40–44
5.	इति कुणालावदानम्	''	44–52
6.	'' वीतशोकावदानम्	''	52–64

•

बौद्धसाधना में समाधि

—जनार्दन पाण्डेय—

[बौद्ध दर्शन का वैशिष्ट्य है कि इसमें सम्प्रज्ञात (भावप्रत्यय) समाधियों के भिन्न-भिन्न नाम भी दिये गये हैं। किसने कौन सी समाधि लगाई और उसका क्या फल हुआ, यह गुह्यसमाज तन्त्र से निदर्शन के लिये यहाँ दिया जा रहा है। इसी प्रकार अन्य ग्रन्थों तथा साधनाओं में भी उपलब्ध है।]

'समाधि' शब्द योगशास्त्र का शब्द है। योग भारत का सबसे प्राचीन शास्त्र है। सृष्टिकर्ता हिरण्यगर्भ ने सृष्टि के साथ ही उसके कल्याण के लिये इस शास्त्र का भी निर्माण किया। इसीलिये योगसूत्र के निर्माता पतञ्जलि को योगशास्त्र का अनुशासक कहा जाता है, प्रवर्तक नहीं। साधनाप्रधान इस भारतवर्ष में साधक आर्य, बौद्ध या जैन कोई भी हो योगशास्त्र की मान्यताओं को स्वीकार किये बिना साधना में सफल नहीं हो सकता और समाधि साधना की चरम परिणति है। समाधि की अवस्था को प्राप्त किये बिना सिद्धि नहीं होती।

वेदमूलक दर्शनों में इस समाधि के विषय में बहुत कुछ लिखा जा चुका है। जैन और बौद्ध दर्शन में भी इसकी उतनी ही महत्ता है।

जैन दर्शन में कर्मपुद्गल को नष्ट किये बिना सर्वज्ञता नहीं आती। कषाय ही बन्धन का कारण है। नवीन कर्मपुद्गलों के आश्रव के अवरोध के बिना कर्मपुद्गलों का क्षय सम्भव नहीं है। अतः सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चरित्र इन तीन रत्नों का अनुष्ठान आवश्यक है। सम्यग्दर्शन ही आत्मा की स्वरूपप्रतिष्ठा का प्रतीक है। इसी के द्वारा जीव, आजीव, आश्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष का यथार्थ ज्ञान होता है।

बौद्धदर्शन में भी सम्यग्दृष्टि का यही स्थान है। यह सम्यग्दृष्टि ही प्रज्ञा है। प्रतीत्यसमुत्पाद आदि प्रज्ञा के सोपान हैं। अनित्यता, दुःखता और अनात्मज्ञान से विपश्यना आती है जो प्रज्ञा का मार्ग और लोकोत्तर समाधि है। इसके द्वारा दिव्यचक्षु, दिव्यश्रोत्र, चेतः-पर्यायज्ञान, पूर्वानुस्मृतिज्ञान, च्युत्युत्पादज्ञान और आश्रवक्षयज्ञान ये षडभिज्ञाएँ उत्पन्न होती हैं। यह एक गम्भीरपर्यालोचना का विषय है। यहाँ मूल प्रश्न है—समाधि क्या है? इसका उत्तर प्रायः सभी दर्शनों में "समाधीयते एकाग्रीक्रियते चित्तमनेन" यही मिलता है

अर्थात् जिसके द्वारा चित्तवृत्ति को एकाग्र किया जाता है उसे समाधि कहते हैं। इसी को महाभारत में 'योग' भी कहा है—

जलसैन्धवयोरैक्यं यथा भवति योगतः ।
तथात्ममनसोरैक्यं समाधिरिह भण्यते ।।

यह समाधि दो प्रकार की होती है—1. सम्प्रज्ञात और 2. असम्प्रज्ञात। इसी को भवप्रत्यय और उपायप्रत्यय नाम से भी जाना जाता है। संप्रज्ञातसमाधि चार प्रकार की होती है—वितर्क, विचार, आनन्द और अस्मिता।

वितर्क—'विशेषेण तर्कणमवधारणम्' सोलह स्थूल विकारों को विषयरूप में ग्रहण करनेवाली प्रज्ञा जब चित्त में प्रतिष्ठित हो जाती है तब वितर्क सम्प्रज्ञात समाधि होती है।

विचार—स्थूल के कारणभूत सूक्ष्म तन्मात्रादि विषयों को अवलम्बन कर जब चित्तवृत्ति का निरोध किया जाता है तज्जन्य साक्षात्कार विचारसंप्रज्ञात समाधि है।

आनन्द—सत्त्वप्रधान अहङ्कार से इन्द्रियों की उत्पत्ति होती है, सत्त्व सुख है। अतः इन्द्रियवर्ग सुखात्मक (आनन्दात्मक) है। इसलिये इन्द्रियात्मक चित्त आभोग साक्षात्कार सानन्द समाधि है।

अस्मिता—बुद्धि के साथ पुरुष की अभिन्नता भ्रान्तिरूप अस्मिता को अवलम्बन कर जो चित्त की एकाग्रता होती है वह अस्मिता सम्प्रज्ञात समाधि है।

बौद्धदर्शन में इसके पाँच भेद किये हैं—

वितर्कं च विचारं च प्रीतिश्चैव सुखं तथा ।
चित्तस्यैकग्रता चैव पञ्चैते ध्यानसंग्रहाः ।।

(गु० स० 18.143)

वितर्क—शून्यस्वरूप लक्षण के ज्ञान का मात्र चित्त द्वारा ऊहापोह तर्क कहलाता है (वितर्क)।

विचार—विषय-विषयी उभय विकल्पों से रहित निश्चयात्मक अनुभव करना विचार (मीमांसा) कहलाता है।

प्रीति—अनुप्राणित होने पर चित्त में जो सुख (आनन्द) का अनुभव होता है वह प्रीति या रति (आनन्द) कहलाता है।

सुख—सुखात्मक चित्त ही अचल (अक्षर) सुख है (अस्मिता)। इससे समाधि के असामान्य लक्षण सम्भोगकाय का प्रादुर्भाव होता है और पंचाभिज्ञा आदि ज्ञानों की प्राप्ति होती है।

चित्तैकाग्रता—पूर्ण बिम्ब के साथ चित्त का एकीभाव हो जाना चित्तैकाग्रता है।

असम्प्रज्ञात या उपायप्रत्यय समाधि के कोई भेद नहीं होते। समाधि का लक्षण बौद्ध ग्रन्थों में इस प्रकार मिलता है—

प्रज्ञोपायसमापत्त्या सर्वभावान् समासतः ।
संहृत्य पिण्डयोगेन बिम्बमध्ये विभावनम् ।।
झटिति ज्ञाननिष्पत्तिः समाधिरिति संज्ञितः ।।

(गुह्यसमाज 18.153, सेकोद्देश टीका, पृ॰ 31)

समाधिवशितामात्रे निरावरणवान् भवेत्। (गु॰ स॰ 18.156, से॰ टी॰, पृ॰ 31)

समाधिर्दशवायूनां निरोधतः। (विमलप्रभा 2.209)

प्रज्ञोपायात्मकेनाक्षरसुखवशाज्ज्ञानबिम्बे समाधिः। (अमृतकणिका, पृ॰ 32)

समाधिर्नाम इष्टदेवतानुरागात् यदक्षरसुखप्राप्तिस्तस्यामेकीकरणम्,
ग्राह्य-ग्राहकताविरहितं चित्तं समाध्यङ्गमुच्यते। (डाकिनीजालसंवररहस्य, पृ॰ 6)

बौद्धतन्त्र ग्रन्थों में यह विशेषता देखी गई है कि वहाँ भिन्न-भिन्न सिद्धियों की प्राप्ति के लिये जिन समाधियों का आश्रय लिया गया है उनके नाम भी पृथक् पृथक् रखे गये हैं। उदाहरण के लिये यहाँ प्रसिद्ध ग्रन्थ गुह्यसमाज तन्त्र में वर्णित समाधियों को परिगणित कर रहे हैं कि किसने किस समाधि द्वारा क्या फल प्राप्त किया—

समाधिकर्ता	समाधिनाम	फल
महावैरोचन	सर्वतथागतमहारागवज्र	सर्वतथागतव्यूह का स्वकायवाक्चित्त में प्रवेश।
बोधिचित्तवज्र	सर्वतथागताभिभवनवज्र	सर्वाकाशधातु की सर्वतथागतवज्रमय संस्थिति।

बोधिचित्तवज्र	सर्वतथागतकायवाक्चित्तवज्र-समयोद्भववज्र	महाविद्यापुरुषमूर्ति में अधिष्ठान।
सर्वतथागतकायवाक्-चित्तवज्र	ज्ञानप्रदीपवज्र	द्वेषकुल का कायवाक्चित्त से निःसारण। (वज्रधृक्)
	सर्वतथागतसमयसम्भववज्र	मोहकुल का निःसारण। (जिनजिक्)
	रत्नसम्भववज्रश्री	चिन्तामणिकुल का निःसारण (आरोलिक्)।
	महारागसम्भववज्र	रागकुल का निःसारण (प्रज्ञाधृक्)।
	अमोघसमयसम्भववज्र	समयाकर्षण कुल का निःसारण, स्त्रीरूप धारण (द्वेषरति)।
	वज्रधरानुरागणसमय	सर्ववज्रधराग्र महिषी का निःसारण, (मोहरति)।
	सर्वतथागतानुरागणवज्र	ईर्ष्याग्रधरा महिषी का निःसारण, (ईर्ष्यारति)।
	सर्वरत्नधरानुरागणवज्र	ईर्ष्याग्रधरा महिषी " स्त्रीरूप धारण ।
	सर्वरागधरानुरागणवज्र	रागधराग्र " " (रागरति)।
	सर्वविसंवादनवज्र	प्रज्ञाधराग्र " " (वज्ररति)।
	महावैरोचनवज्र	क्रोधधराग्र " " (यमान्तकृत्)।
	अभिसम्बोधिवज्र	महाक्रोध का निःसारण (प्रज्ञान्तकृत्)।
	धर्मवशङ्करी	महाक्रोध का निःसारण (पद्मान्तकृत्)।
	कायवाक्चित्तवज्र	कायवाक्चित्तमण्डलाधिष्ठित महाक्रोध का निःसारण (विघ्नान्तकृत्)।
सर्वतथागतकायवाक्चित्त-वज्र	सर्वतथागताभिसम्बोधिनयवज्र	बोधिचित्तोदाहृति
वैरोचन	सर्वतथागताभिसमयवज्र	शून्यताभाव
अक्षोभ्यवज्र	सर्वतथागताक्षयवज्र	बोधिचित्तोदाहृति
रत्नकेतु	सर्वतथागत नैरात्म्यवज्र	"
अमितायु	सर्वतथागत ज्ञानार्चिप्रदीपवज्र	"
अमोघसिद्धि	सर्वतथागत अभिभवनवज्र	"
कायवाक्चित्तवज्र	सर्वतथागत स्फुरणमेघव्यूह	वज्रव्यूहसमाधिपटल कथन
"	धर्मधातुस्वभाववज्र	कायवाक्चित्ताधिष्ठान मन्त्र
"	आकाशसमताद्वयवज्र	स्पर्श से बोधिसत्त्वों का अपने आसनों में अवस्थान

अक्षोभ्यवज्र	सर्वतथागतकायवाक्चित्त-गुह्यवज्र	चित्ताधिष्ठानमन्त्र
वैरोचनवज्र	विरजपदवज्र	कायाधिष्ठानमन्त्र
अमितायु	समताद्वयवज्र	वागधिष्ठानमन्त्र
रत्नकेतु	ज्ञानप्रदीपवज्र	अनुरागणमन्त्र
अमोघसिद्धि	अमोघवज्र	पूजामन्त्र
स्वभावशुद्ध तथागत	पारमितामन्त्रनयवज्र	मन्त्रसमुच्चय का उपदेश
कायवाक्चित्तवज्र	वज्रपुरुषोत्तम	मन्त्रवज्रपुरुषोत्तमपटल का उपदेश
सर्वतथागत	समयतत्त्वज्ञानवज्राधिष्ठानहेतु	बुद्धकायसमप्रभता
	कायरश्मिव्यूह	धर्मवज्रसमता
	वाग्वज्रसमयसम्भव	ज्ञानगुणोदधित्व
	कायवाक्चित्तवज्र	खवज्रज्ञानसमता
	कायवाक्चित्तवज्रान्तर्ज्वाल-सम्भवव्यूहमाली	दशभूमिप्रतिष्ठित बोधिसत्त्वात्मता
	बोधिसत्त्वज्ञानसमयचन्द्रवज्र	वज्रकायसमता
	खवज्रसमयव्यूहालय	वज्रसत्त्वज्ञानाकारप्रभावित्व
	अक्षोभ्यसमयकायाभि-सम्बोधिवज्र	आकाशवज्रादि प्रभावित्व
	रत्नकेतुसमयसम्भोगवज्र	बोधिनैरात्म्यज्ञानवज्रसमत्व
	अमितवज्रप्रभावश्रीः	अमितायुसमप्रभता
	अमोघसमयरश्मिज्ञानाग्रसम्भव	वज्रामोघसमप्रभता
	कायवाक्चित्तालम्बनसम्बोधि-वज्र	वैरोचनसमप्रभता
	मञ्जुश्रीवज्राग्रसमयान्तर्द्धानकरी	मञ्जुवज्रसमप्रभता, अन्तर्धान शक्ति
	चक्रसमय	बुद्धसमता
	वज्रसमता	चित्तवज्रसमता, बहुयोषित्प्राप्ति
	पद्मसमता	सर्वधर्मालयत्व बहुयोषित्प्राप्ति
	सर्वखड्गोत्तम	वज्रविद्याधरत्व, अभिलषितसिद्धि
	सर्वसमयज्ञानवज्राहार	सर्वसिद्धिकरत्व

समयवज्रामृतमालिनी	वज्रसत्त्वसमता
वज्रसमयाज्ञाचक्र	सर्वदुष्टघातनक्षमता
चक्रसमयाज्ञावज्र	त्रिकायजविस्फारणक्षमता
सर्वसमयसम्भवयमान्तक-सामान्य त्रिकायाज्ञावज्र	त्रिकालमण्डलप्रविष्टदु:सत्वघातकक्षमता
वज्रमन्त्ररत्नप्रद्योतकर-वज्रोदधिपदाक्रान्त	चित्तवज्रप्रभावितबुद्धसंस्फारण
सर्वतीर्थप्रवादिस्तम्भनवज्र	प्रवादिस्तम्भन
सर्वसैन्यस्तम्भन	सैन्यस्तम्भन
रिपुमहापहार	रिपूच्छेदन
सर्वसत्त्वरोगापनयनवज्रसम्भव	रोगशमन
जगद्विजयशान्तिवज्र	शान्तिस्थापन
बुद्धसमयमेघव्यूह	श्रीमत्ता
धर्मसमयमेघव्यूह	"
रत्नसमयमेघव्यूह	"
वज्रमेघव्यूह	"
वैरोचनसमयसम्भव चारुवज्र	बुद्धमाहात्म्यप्राप्ति
सर्ववज्रसमयसम्भव चारुवज्र	सर्वसत्त्ववशंकर वज्रमाहात्म्यप्राप्ति
धर्मसत्त्वसमयसम्भव चारुवज्र	धर्ममाहात्म्यप्राप्ति
लोचनासमयाज्ञानहस्ताग्रवती	सर्वसिद्धिकरज्ञानप्राप्ति
खभानुरश्मिमेघवज्राह्लादनवती	बुद्धबोधिकरत्व
धर्मसमयतत्त्वाभिसम्बोधि	सर्वक्रोधदेवतातुष्टि
समयताराग्रवती	"
यमान्तकस्फुरणावभासव्यूह	"
अपराजितवज्रव्यूह	"
हयग्रीवोत्पत्तिसम्भवव्यूह	"
अमृतसमयसम्भववज्र	"
ध्यानवज्रसम्बोधिरति	"
त्रिबलवज्र	"

	वज्रदण्डसमयाग्रवती	सर्वक्रोधदेवतातुष्टि
	खवज्रधातुसमयपदाक्रान्त	"
	उष्णीषविद्याचलचक्र	"
	वज्रसमयसुम्भवज्र	"
सर्वतथागतसमयाधिपति	शान्तिसमयाग्र	सर्वतथागतभार्यानिश्चारण
त्रिकायसमयक्रोधवज्र	भावाभावसमयवज्र	सर्ववज्रधराग्रमहिषीनिश्चारण
	महारागसमयावलोकन	धर्मकायाग्रभार्यानिश्चारण
	समन्तसम्भववज्र	समयसत्त्वाग्रभार्यानिश्चारण
सर्वतथागत...वज्र	विमलरश्मिमेघव्यूह	वज्रयमान्तकमहाक्रोधवज्रनिश्चारण
वैरोचनवज्र	समयरश्मिधनाग्र	अमृतसमयवज्रक्रोधनिश्चारण
रत्नकेतुवज्र	बुद्धरश्मिवज्र	वज्रापराजितमहाक्रोधनिश्चारण
अमितायु	अमितसम्भववज्र	पद्मसम्भववज्रक्रोधनिश्चारण
अमोघसिद्धि	अमोघसमयसम्भवहेतुवज्र	नीलवज्रदण्डक्रोधराजनिश्चारण
अक्षोभ्यवज्र	समन्तमेघश्री:	महाबलवज्रनिश्चारण
सर्वतथागतवज्र	समन्तनिर्घातवज्र	टक्किराजमहाक्रोधनिश्चारण
"	ज्ञानमालाम्बुजवज्र	अचलवज्र चण्डसमय निश्चारण
"	समयविष्टम्भितवज्र	सुम्भमहाक्रोध निश्चारण
"	महासमयतत्त्वोत्पत्तिवज्र	वाक्समयतत्त्वपद निश्चारण
"	समन्तविष्टम्भित ज्ञानवज्र	वज्रैकजटानिश्चारण
"	गगनसमयसम्भववज्र	धर्मसमयवज्रभृकुटीनिश्चारण
"	सर्वतथागतकायवाक्चित्त-निबन्धनवज्र	त्रैधातुककायादिकीलनवज्रनिश्चारण
महावैरोचन	कायविजृम्भितवज्र	कायसमयाक्षेपवज्रकीलनमन्त्र निश्चारण
लोकेश्वर	वाग्विजृम्भितवज्र	वाक्समयाक्षेपवज्रकीलनमन्त्र निश्चारण
महावज्रधर	चित्तविजृम्भितवज्र	चित्तसमयाक्षेपवज्रकीलनमन्त्र निश्चारण
भगवान् सर्वतथागत	महासमयवज्रक्रोध-सर्वसत्त्वोत्पादनकरी	वज्रसन्त्रासनक्रोध निश्चारण
वज्रपाणि	सर्ववज्रमण्डलसिद्धि-समयराजव्यूह	सर्वबुद्धवज्रकायमण्डलनिश्चारण

वज्रपाणि	सर्ववाग्वज्रसमयमेघव्यूह	सर्वबुद्धवज्रकायमण्डलनिश्चारण
"	समन्तमेघव्यूह	परमगुह्यरहस्यमण्डलनिश्चारण
"	सर्वमण्डलचक्रसम्भव	मण्डलकायवाक्चित्तगुह्यनिश्चारण
"	वीरवज्रोर्मिमाला	महावज्रभावनापदनिश्चारण
"	समन्तनिर्घोषवज्र	—
"	सर्वाशावज्रसम्भोग	समाधिवज्रनयनिश्चारण
"	वज्रकामोपभोगश्री	यक्षिणीसमयवज्रपदनिश्चारण
"	सर्वबुद्धमन्त्रसिद्धिविष्टम्भित-वज्र	हीनसिद्धि निश्चारण
"	सर्वतथागतसमताविहार	पर्षन्मण्डलावलोकन
"	सर्वकामोपभोगवज्रश्रीः	सर्वतथागतदयिताकामना

•

बौद्ध तन्त्रवाङ्मय का परिचय

(वज्रभैरवतन्त्र)

—बनारसीलाल—

[बौद्ध तन्त्रवाङ्मय के परिचय के सन्दर्भ में कृष्णयमारितन्त्र के विवेचन (धी: 21, पृ० 29-40) के समय यमारि, यमान्तक एवं भैरव श्रेणी के तन्त्रों का उल्लेख किया था, जिसमें यमारि तथा यमान्तक से सम्बद्ध वाङ्मय का परिचय दिया जा चुका है। सम्प्रति इसी श्रेणी के वज्रभैरवतन्त्र से सम्बद्ध वाङ्मय की प्रत्यवेक्षा यहाँ प्रस्तुत की जा रही है।]

बौद्ध तन्त्र साहित्य के चतुर्विध विभाजन में वज्रभैरव तन्त्र की गणना अनुत्तरतन्त्र के उपायतन्त्र अर्थात् पितृतन्त्र में की जाती है। पितृतन्त्र का ही अन्यतम तन्त्र गुह्यसमाज तन्त्र अत्यन्त प्रसिद्ध है। वज्रभैरवतन्त्र उपायतन्त्र के वैरोचन कुल से सम्बद्ध तन्त्र है। यह वज्रभैरव एवं श्रीवज्रमहाभैरव तन्त्र के नाम से प्रसिद्ध है। बौद्ध तन्त्रों के उद्भव के सम्बन्ध में सामान्य प्रचलित धारणा यही है कि इसके उपदेष्टा स्वयं भगवान् बुद्ध हैं। उन्होंने विनेयजनों की अधिमुक्ति एवं पात्रता के अनुसार विभिन्न लोकों में जाकर इन तन्त्रों का प्रवचन दिया। परन्तु आधुनिक अनुसन्धान की पद्धति द्वारा तथ्यों के विवेचन से इनका काल स्थिर करना और परम्परागत मान्यता को पुष्ट करना दु:साध्य प्रतीत होता है। सोलहवीं सत्रहवीं शताब्दी के प्रसिद्ध भोटदेशीय भारतीय इतिहासकार तारनाथ इस सन्दर्भ में अपना मत व्यक्त करते हैं कि बौद्ध तन्त्रों को अनेक सिद्धों ने नागलोक, ओडियान आदि देशों से लाकर जम्बूद्वीप में प्रचारित किया। इसी क्रम में उनका मानना है कि वज्रभैरवतन्त्र का जम्बूद्वीप में प्रचार-प्रसार का कार्य सिद्ध ललितवज्र ने किया, जिसे वे ओडियान देश से ले आये थे[1]। ललितवज्र का समय दसवीं शताब्दी माना जाता है। इनके समकालीन सिद्धों में कम्बलपाद, आचार्य कुक्कुराज तथा सरोजवज्र हैं। मञ्जुश्री इनके इष्टदेव थे। यमारितन्त्रों के प्रसंग में इनका काल स्थिर करने का प्रयास किया गया था[2]।

वज्रभैरवतन्त्र की परम्परा

परम्परागत मान्यता के अनुसार वज्रभैरवतन्त्र की परम्परा सिद्ध ललितवज्र ने सीधे ज्ञानडाकिनी से प्राप्त की। तदनन्तर उन्होंने इसे जम्बूद्वीप में प्रचारित किया। इस तन्त्र के

---

1. भारत में बौद्धधर्म का इतिहास, पृ० 102
2. धी: 21, पृ० 29-40

परवर्ती टीकाकार एवं साधकों में कुमारचन्द्र, सोमश्री, अक्षोभ्य, अमोघवज्र, वैरोचनरक्षित आदि प्रमुख हैं। क्योंकि ललितवज्र के इष्टदेव मञ्जुश्री थे, अतः इस तन्त्र की पुष्पिका "मञ्जुश्री-आख्यमहावज्रभैरवयोगतन्त्र" के नाम से उद्धृत है। वज्रभैरव का सम्भवतः सर्वप्रथम उद्धरण मञ्जुश्रीनामसङ्गीति में मिलता है। वहाँ "वज्रभैरवभीकरः" इस पद से इसका संगायन किया गया है। मञ्जुश्रीनामसंगीति को सभी तन्त्रों का प्रतिनिधि माना जाता है। नामसंगीति का काल हमने पाँचवीं-छठी शताब्दी स्थिर करने का प्रयास किया है। इस दृष्टि से वज्रभैरवतन्त्र का भी काल हम पाँचवीं-छठी शताब्दी के आसपास मान सकते हैं।

वज्रभैरवतन्त्र के मूलतन्त्र के सम्बन्ध में भी यही धारणा प्रचलित है कि इसका मूलतन्त्र दस हज़ार परिच्छेदात्मक था। सम्प्रति भोटानुवाद में प्राप्त तन्त्र इसका संक्षिप्त या लघुरूप है। तो० सं० 468 पर प्राप्त इस ग्रन्थ के सात परिच्छेद हैं। भोटानुवाद कन्युर संग्रह में इससे सम्बद्ध अनेक ग्रन्थ हैं। इसमें तो० 468 "श्रीवज्रभैरवकल्पतन्त्रराज" ही इसका तन्त्र ग्रन्थ है, देखने में यह साधनग्रन्थ सा प्रतीत होता है। एक अन्य तन्त्र "श्रीवज्रभैरवकल्पतन्त्रराज" (तो० 470) के नाम से भी प्राप्त है। इसमें चार परिच्छेद हैं। इसी प्रकार श्रीवज्रभैरवविदारणतन्त्रराज, श्रीवज्रभैरवनामतन्त्रराज त्रिकल्प नाम से भी ग्रन्थ उपलब्ध हैं। इनमें आर्यवज्रभैरवधारणी नामक ग्रन्थों का संकलन क्रियातन्त्र के अन्तर्गत तथागत कुल के तन्त्रों में हुआ है। इसी प्रकार वज्रभैरवविदारणतन्त्रराज (तो० 409) को अनुत्तरतन्त्र के स्फरण तन्त्र के ग्रन्थों से सम्बद्ध माना जाता है। भोटानूदित कन्युर संग्रह में वज्रभैरव या वज्रमहाभैरव के नाम पर निम्नलिखित ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं—

1. आख्यानकल्प (तो० 471)
2. आर्यवज्रभैरवनाम धारणी (तो० 605)
3. क्रोधविजयकल्पगुह्यतन्त्र (तो० 604)
4. छुछुन्दरकल्प (तो० 472)
5. श्रीवज्रभैरवकल्पतन्त्रराज (तो० 470)
6. श्रीवज्रभैरवविदारणतन्त्रराज (तो० 409)
7. श्रीवज्रभैरवनामतन्त्रराज (तो० 468)
8. श्रीवज्रभैरवनामतन्त्रराज त्रिकल्प (तो० 469 ?)
9. आर्यवज्रभैरवनामधारणी (तो० 956)

भारतीय आचार्यों की टीका-टिप्पणियाँ

प्रायः सभी तन्त्रों की भाँति वज्रभैरवतन्त्र पर भी भारतीय आचार्यों ने टीका-टिप्पणियाँ की हैं। यद्यपि हमें इनकी पूरी जानकारी नहीं मिलती है। प्राचीन समय में जिन टीका-टिप्पणियों का भोट भाषा में अनुवाद हुआ, उसी के आधार पर हम इनकी सूची प्रस्तुत कर रहे हैं।

1. वज्रभैरवतन्त्रटीका-(तो० 1970)[1]-अक्षोभ्य*
2. श्रीवज्रभैरवतन्त्रपञ्जिका-(तो० 1973)-कुमारचन्द्र*
3. श्रीवज्रभैरवतन्त्रटिप्पणी नाम-(तो० 1971)-सोमश्री
4. श्रीवज्रभैरवतन्त्रवृत्ति अलंकारोपदेशनाम-ललितवज्र[2]
5. श्रीवज्रभैरवतन्त्रसूत्रटिप्पणी-(तो० 1972)-वज्रसिद्ध*
6. वज्रभैरवतन्त्रपञ्जिका रत्नमालानाम-(तो० 1974)-कृष्णपा*

भोट भाषा में अनूदित अन्य परिवार ग्रन्थ

उपर्युक्त ग्रन्थों के अतिरिक्त इस तन्त्र से सम्बद्ध साधन, होम, मण्डलविधि, स्तुति इत्यादि विषयों पर भी अनेक ग्रन्थों की रचना हुई है। भोट तन्ग्युर संग्रह में निम्नलिखित परिवार ग्रन्थों की सूचना मिलती है—

1. भैरवशान्तिकर्मसप्तक-(तो० 2001)-अमोघ
2. मण्डलविधि-(तो० 1983)-अमोघवज्र
3. महावज्रभैरवहोमविधि-(तो० 1997)-अमोघवज्र
4. श्रीवज्रभैरवसाधन-कर्मोपचारविधिसत्त्वसंग्रह-(तो० 1982)-अमोघवज्र*
5. श्रीवज्रभैरवस्तुति-(तो० 2011)-अमोघवज्र
6. श्रीवज्रभैरवसाधन उद्‌बुद्धकमलनाम-
7. वज्रभैरवसाधन-(तो० 1989)-अशोकश्री
8. मञ्जुश्रीभैरवनामस्तुति-(तो० 2012)-कर्मराज
9. छुछुन्दरकल्प-(तो० 1996)

---

1 ताराङ्कित नाम भोट भाषा से अनूदित हैं।

2 B. Siklós, p. 231

10. वज्रभैरवसाधन-(पी० 2861)-ज्ञानाकर
11. श्रीवज्रभैरवहस्तचिह्नविशुद्धनाम-(पी० 2860)-तथागतरक्षित
12. श्रीवज्रभैरवसाधननाम-(तो० 1994) मञ्जुवज्र
13. वज्रभैरवैकानन-द्विभुजसाधननाम-(तो० 1976)-मञ्जुश्रीघोष*
14. वज्रभैरवसाधन-(तो० 1981)-मञ्जुश्रीज्ञान
15. वज्रभैरवगणचक्रनाम-(तो० 1995)-रत्नाकरशान्ति
16. श्रीवज्रभैरवबलिविधि-(तो० 2000)-ललितवज्र
17. श्रीवज्रभैरवसाधन-(तो० 1998)-ललितवज्र
18. श्रीमहावज्रभैरवमारणचक्रनाम-(तो० 1984)-ललितवज्र
19. श्रीवज्रभैरवसाधनोपायिका-(पी० 4803)-ललितवज्र
20. श्रीवज्रभैरवसमयमण्डलविधि-(तो० 1986)-ललितवज्र
21. श्रीवज्रभैरवसाधनोपायिका-(पी० 2851)-ललितवज्र
22. श्रीवज्रभैरवमण्डलविधिप्रकाशनाम-(पी० 2869)-वैरोचनरक्षित*
23. श्रीवज्रभैरवसाधनवज्रप्रकाशनाम-(तो० 2013)-वैरोचनरक्षित
24. श्रीवज्रभैरवकल्पे चक्रवर्तनैकपक्षरौद्रकर्म-(तो० 1980)-शान्तिज्ञान
25. श्रीवज्रभैरवोपासनविधि-(तो० 1978)-शान्तिज्ञान
26. महिषाननसाधन-(तो० 1975)-श्रीधर*
27. श्रीवज्रभैरवसाधनोपायिका संक्षिप्त-(तो० 1977)-श्रीभद्र
28. महावज्रभैरवहोमविधिर्नाम-(तो० 1997)-अमोघवज्र
29. श्रीवज्रभैरवसाधन-(तो० 1999)-ललितवज्र
30. भैरवस्तुति
31. वज्रभैरवबलिविधि
32. श्रीवज्रभैरवस्तुति
33. साधनविधि-(तो० 1979)-शान्तज्ञान

संस्कृत में प्राप्त वज्रभैरवतन्त्र साहित्य

बौद्धतन्त्रों की संस्कृत पाण्डुलिपियों के मध्य वज्रभैरव तन्त्र से सम्बद्ध बहुत कम साहित्य की सूचना मिलती है। ज्ञात सूचनाओं एवं सन्दर्भों के आधार पर इससे सम्बन्धित

ग्रन्थों की सूचना दी जा रही है। भोट साहित्य में अनूदित साहित्य की दृष्टि से यह अत्यन्त अल्प एवं अपूर्ण हैं।

वज्रभैरवमहाकल्प

वज्रभैरवमहाकल्प नाम से प्राप्त इस ग्रन्थ की पाण्डुलिपि राष्ट्रीय अभिलेखालय काठमाण्डू में उपलब्ध है[1]। इसका भोटानुवाद तो० सं० 468 में उपलब्ध है। सम्भवत: यही वज्रभैरवमहातन्त्र है। इसमें सात परिच्छेद हैं। यद्यपि उपलब्ध मातृका में आठ पत्र पूर्ण हैं परन्तु ऐसा प्रतीत होता है जिस मूल पाण्डुलिपि से यह प्रतिलिपि की गई है वह पाण्डुलिपि अपूर्ण रही होगी। इस कारण इसके चौथे एवं पाँचवें परिच्छेद के मध्य तथा छठे एवं सातवें परिच्छेद के मध्य कुछ अंश अपूर्ण है। इस पाण्डुलिपि का विस्तृत परिचय 'दुर्लभ ग्रन्थ परिचय' भाग-2, पृ० 198 में दिया गया है। बी० सिक्लोस ने इसे अपने ग्रन्थ ''दी वज्रभैरवतन्त्र'' में ग्रन्थ सं० एक के रूप में अंग्रेजी में अनुवाद कर प्रस्तुत किया है। महावज्रभैरवतन्त्रराज नाम से एक पाण्डुलिपि राहुल जी द्वारा संगृहीत पाण्डुलिपियों एवं छाया चित्रों के मध्य होने की सूचना है[2]। आर० यमादा ने वीर पुस्तकालय नेपाल की सूची के आधार पर वज्रभैरवयोगतन्त्र नामक ग्रन्थ की सूचना दी है[3]।

वज्रभैरवतन्त्रपञ्जिका

महापण्डित राहुलसांकृत्यायन द्वारा तिब्बत से लायी पाण्डुलिपियों एवं माइक्रोफिल्म संग्रह में इस पञ्जिका की एक प्रति होने की सूचना दुर्लभ ग्रन्थों की आधार सामग्री भाग-1, पृ० 46 में दी है[4]। सम्भवत: यह कृष्णपा द्वारा रचित रत्नमाला नामक पञ्जिका की सूचना है। परन्तु बी० सिक्लोस की सूचना के अनुसार वहाँ किसी भी रूप में वज्रभैरवतन्त्र की पाण्डुलिपि या इसकी माइक्रोफिल्म प्राप्त नहीं है।

---

1. राष्ट्रीय अभिलेखालय, काठमाण्डू, लगत सं० 5/111, पत्र सं०-8, लिपि-देवनागरी, रील सं० बी० 112/16
2. Journal of Bihar and Orissa Research Society. Vol. xxiv, 4-27, Folios-7.
3. R. Yamada- A Bibliographical Survey of Buddhist Sanskrit Texts, 1953, No. 75, Page-130.
4. Journal of Bihar and Orissa Research Society Vol. xxvii, 276, Folios 4 and Vol. xxxv, 4-300.

इनके अतिरिक्त वज्रभैरवतन्त्र साधन, स्तोत्र एवं धारणी से सम्बद्ध निम्नलिखित लघु ग्रन्थों की सूचनाएं मिलती हैं।

3. भैरवतन्त्र[1]
4. महाभैरवतन्त्रे विपरीतप्रत्यङ्गिरा[2]
5. भैरवकवच[3]
6. वज्रभैरवसाधन[4]
7. भैरवाष्टकसाधन[5]
8. भैरवकालचक्रहृदयधारणी[6]
9. भीमभैरवनामधारणी[7]
10. भैरवनामधारणी[8]
11. महाभैरवधारणी[9]

अन्य भाषाओं में अनुवाद

इस तन्त्र का चीनी भाषा में मात्र एक अनुवाद होने की सूचना है। तदनुसार उक्त ग्रन्थ का नाम "बुद्धभाषितमञ्जुश्रीयोगतन्त्र-वज्रभैरवचक्रध्यानसंज्ञानसिद्धिकल्पसूत्र" है[10]। सूचीपत्र में इसके अनुवादक का नाम उल्लिखित नहीं है। अत: यह नहीं कहा जा सकता कि इसका अनुवाद किस शताब्दी में हुआ।

---

1. Microfilm Catalogue of the Buddhist Sanskrit Manuscripts in Nepal, ed. by H. Takaoka, Buddhist Library, Japan, 1981, KA-16-B, Folios-4.
2. A Catalogue of the Sanskrit Manuscripts in Tokyo University Library, Japan, 1965, No. 418-142, Folios-275; 516-I, Folios-25.
3. Institute for Advance Studies of World Religions, NY, MBB-II-263, Folios-24.
4. (a) Asha Archives, Kathmandu, RN-278, Folios-31.
   (b) Institute for Advance Studies of World Religion, NY, MBB-II-43, Folios- 4.
5. H. Takaoka, Microfilm Catalogue of Buddhist Mss in Nepal, KA-16f. Folios- 4.
6. Dhih : Journal of Rare Buddhist Texts Research Project, Vol. 24, p. 100; Vol. 25, p. 140.
7. Dhih -Vol. 24, p. 98.
8. वृहत् धारणी संग्रह-पृ० 408
9. वहीं, पृ० 111
10. No-1062, A Catalogue of the Chinese Translation of the Buddhist Tripitaka, B. Nanjio.

यमारि, यमान्तक एवं वज्रभैरव श्रेणी के तन्त्रों का मंगोलिया में अत्यधिक प्रचार हुआ तथा इनसे सम्बद्ध अनेक तन्त्र ग्रन्थों का अनुवाद मंगोलियायी भाषा में हुआ। बी० सिक्लोस के ग्रन्थ 'द वज्रभैरवतन्त्र[1]' में इसका विस्तार से विवरण दिया है तथा सम्बद्ध साहित्य की सूची भी है। साथ में सम्बद्ध पाँच ग्रन्थों के मंगोल-अनुवाद का प्रकाशन भी किया है।

वज्रभैरवतन्त्र पर आधुनिक शोध कार्य

यद्यपि यह तन्त्र अधिक प्रचलित नहीं है। भोट सम्प्रदायों में गेलुग् परम्परा में इसे प्रमुखता दी जाती है। इसीलिए इसका प्रचार तिब्बत एवं मंगोलिया में अधिक हुआ। इस परिप्रेक्ष्य में इस विषय पर अध्ययन मनन भी कम ही हुआ है। वज्रभैरवतन्त्र एवं इससे सम्बद्ध त्रिकल्प, छुछुन्दरकल्प इत्यादि पाँच ग्रन्थों का अध्ययन एवं इनका अंग्रेजी अनुवाद तथा इसके भोट एवं मंगोलियन पाठ का सम्पादन बी० सिक्लोस ने किया है। यमान्तकतन्त्रों के विस्तृत अध्ययन एवं शोध की परियोजना इस समय तिब्बत हाउस, नयी दिल्ली में चल रही है। इस परियोजना के अन्तर्गत अध्ययन एवं शोध का परिणाम बारह भागों में प्रकाशित किया जायेगा। सम्प्रति हम इसका पूरा विवरण देने में असमर्थ हैं। अब तक इससे सम्बद्ध ज्ञात प्रकाशित सामग्रियों की सूचना यहाँ दी जा रही है। यहाँ यह भी बतला देना आवश्यक है कि यमान्तक, यमारि, भैरव एवं एकवीर सभी इसी श्रेणी के तन्त्र हैं।

Cozert, David

The Sand Maṇḍala of Vajrabhairava, Ithaka, NY, Snowlion Publication, 1995.

Sharpa Tulku and Guard, R.

-*Meditation on Vajrabhairava*, LTWA Dharmasala, 1990.

-*Self Initiation of Vajrabhairava*, LTWA Dharmasala, 1991.

Bulscu Siklós

The Vajrabhairava Tantra, The Institute of Buddhist Studies, Tring. U.K. 1996.

---

1. The Vajrabhairava Tantra- B. Siklós.

Siddhaikavīramahātantra, I Chapt.

Annual of the Institute for Comprehensive Studies of Buddhism, Taisho University, No. 17, March 1995, pp.366-349.

सिद्धैकवीरमहातन्त्रम्

दुर्लभ बौद्ध ग्रन्थमाला-20, केन्द्रीय उच्च तिब्बती शिक्षा संस्थान, सारनाथ, वाराणसी-1998

Lessing, F.D.

The Topographical Identification of Peking with Yamantaka, Central Asiatic Journal, 2, pp. 140-141, 1956.

Sikl6s, B.

-*Datura Ritual in the Vajrabhairava Tantra*, Curarc-16, 2:71-76, 1993.

-*The Flora and Fauna of the Vajramahābhairavatantra*, Jahrbuch für Ethnomedizin und Be Wustseinsforschung-3, 1994.

-*The Evolution of the Buddhist Yama*, Buddhist Forum IV, 159-183, 1996.

•

अनुत्तरतन्त्र का वर्गीकरण

—वङ्छुग दोर्जे नेगी—

[बौद्ध तन्त्रों का चतुर्विध विभाजन सर्वविदित है। इनमें अनुत्तरतन्त्र को पुनः मातृतन्त्र, पितृतन्त्र और अद्वयतन्त्र में विभाजित किया जाता है। अनुत्तरतन्त्र के इस आन्तर विभाजन को बौद्ध तन्त्रों के मूल ग्रन्थों एवं भारतीय आचार्यों द्वारा रचित कृतियों में विशेष विस्तार नहीं मिलता। अनुत्तरतन्त्र के इस विभाजन के सन्दर्भ में भोट आचार्यों ने विस्तार से उल्लेख किया है। प्रस्तुत निबन्ध में भोट आचार्यों की कृतियों के आधार पर इन तीनों तन्त्रों के लाक्षणिक विवेचन को स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है।]

भोट देश के आचार्यों ने जिस प्रकार स्वतन्त्र रूप से पितृ-तन्त्र, मातृ-तन्त्र और अद्वयतन्त्र का स्पष्टतया भेद कर व्याख्या की है, ऐसा भारतीय आचार्यों की रचनाओं में स्पष्ट वर्णन नहीं मिलता है । लेकिन इससे मिलते-जुलते शब्द का प्रयोग उपलब्ध होता है। जैसे वज्रपंजर[1] में बताया गया है कि प्रज्ञापारमिता और महामुद्रायोग नामक साधनोपाय जिस तन्त्र में उपदिष्ट हैं, वह योगिनीतन्त्र (मातृ-तन्त्र) है । बुद्धकपाल में योगतन्त्र की संख्या 6 करोड़ और योगिनीतन्त्र की संख्या 16 करोड़ बताई है[2] । वहीं बुद्धकपाल को अनुत्तर योगिनीतन्त्रों का राजा कहा है[3] । वज्रगर्भालङ्कार में डाक पितृतन्त्रों और डाकिनी मातृतन्त्रों को अन्तिम तन्त्र कहा है[4] । गुह्यतत्त्वप्रकाश में उत्पत्तिक्रम और निष्पन्नक्रम की भावना की प्रधानता से अनुत्तरतन्त्र के उत्पत्तिक्रमप्रधान पितृतन्त्र और निष्पन्नक्रमप्रधान मातृतन्त्र नामक दो भेद कहे गये हैं[5] । वज्रपंजर में भट्टारिकाओं द्वारा संगृहीततन्त्र डाकिनी मातृतन्त्र है, जिसमें उपाय महासुख की प्रधानता रहती है[6] । वहीं कहा गया है कि पुरुष विनेयजनों के लिए पितृतन्त्र और स्त्री विनेयजनों के लिए मातृतन्त्र की देशना हुई है । हेवज्र, गुह्यकोश, वज्रामृतोद्भव, चक्रसंवर, वज्रपंजर और संवरोदय— ये छह मातृतन्त्र में प्रकीर्तित हैं[7] । योगावतार में श्रद्धाकर वर्मा अनुत्तरतन्त्र के दो भेद करते हैं—

---

1 तो० 419, प० 54ख

2 तो० 424, प० 143

3 वहीं प०, 144

4 तो० 419, प० 54ख

5 तो० 1450, प० 349ख

6 तो० 419, प० 37

7 वहीं प० 54ख, 13 वां पटल ।

उपाययोगतन्त्र और प्रज्ञायोगतन्त्र । वे कहते हैं, जिसमें गम्भीर तत्त्वों का प्रमुख रूप से निर्देश हुआ है, वह प्रज्ञातन्त्र है । जिसके विनेयजन पुरुष हों, वह पितृदेव प्रधान उपायतन्त्र है और जिसके विनेयजन स्त्री हों, वह मातृदेव प्रधान प्रज्ञातन्त्र है । जिसमें स्कन्ध, आयतन आदि की परिशुद्धि द्वारा देवभावना की प्रक्रिया प्रतिपादित हो, वह उपायतन्त्र है और जिसमें बोधिचित्त विशुद्ध होकर देव रूप में प्रकट होता दिखाई देता हो, वह प्रज्ञातन्त्र है । इसी तरह से जिसमें देवों का लोकानुरूप निर्देश हुआ हो, वह उपायतन्त्र और उसके विपरीत जिसमें निर्देश हुआ हो, वह प्रज्ञातन्त्र है[1] ।

बुस्तोन पितृतन्त्र और मातृतन्त्रों का स्वरूपगत अन्तर इस प्रकार बताते हैं[2] —

(1) अनुत्तरयोगावतार के अनुसार जिसमें उपाय विस्तृत रूप से प्रतिपादित हो, वह पितृतन्त्र है और जिसमें गम्भीरार्थ का प्रतिपादन विस्तार से हुआं हो, वह मातृतन्त्र है।

(2) गुह्यतत्त्वप्रकाश के अनुसार उत्पत्तिक्रम का प्रधान रूप से प्रतिपादन करने वाला तन्त्र पितृतन्त्र और निष्पन्नक्रम का प्रधानरूप से प्रतिपादन करने वाला मातृतन्त्र है ।

(3) विमलप्रभा के अनुसार भूतों का क्रमशः लयकर वज्रभूमि, विमानमण्डल आदि की भावनाविधि को बताने वाला तन्त्र उपायतन्त्र या पितृतन्त्र है । भूतों से लेकर सुमेरु पर्वत पर्यन्त क्रमशः साधक को विमानमण्डल की भावना विधि बताने वाला तन्त्र प्रज्ञातन्त्र है ।

(4) सम आनन-भुजाओं वाला युगनद्धकाय उपाय तन्त्र या पितृतन्त्र का देव है । जिनमें मातृ और पितृदेवों के आनन और भुजाएं विषम रहते हुए युगनद्ध काय रूप हों, वे मातृतन्त्र के देव कहलाते हैं । जिनमें प्रधान मातृ-पितृ युगनद्धकाय की भुजाएं और आनन सम हों, लेकिन अनुचर देवों के युगनद्ध कायों में आनन और भुजाओं में विषमता रहे, वे अद्वयतन्त्र के देव हैं ।

(5) वज्रपंजर के अनुसार जिसमें तथागत-वज्रडाकिनी हो और अनुचरों में मातृ देवियों की प्रधानता रहे वह मातृतन्त्र कहलाता है, देव पंचतथागत कुलों में प्रकट हों और अनुचरों में पितृदेवों की प्रधानता रहे, वे पितृतन्त्र हैं ।

---

1 तो॰ 3713, प॰ 105-107

2 जि॰ 4, पृ॰ 44-48

(6) रत्ननिर्मित आसन और सिंहासन के ऊपर रत्नालङ्कृत, चक्र आदि से विभूषित, क्रोध और प्रत्यालीढ मुद्रा में प्रकटित देव उपायतन्त्र के देव हैं । शवासन, कपाल और अस्थि आभूषणों से अलंकृत, हाथ में कर्तरी, कपाल, खड्ग और डमरु आदि धारण किये, व्याघ्र और गजचर्मों का परिधान पहिने या निर्वस्त्र नग्न देव प्रज्ञातन्त्र या मातृतन्त्र के देव कहलाते हैं ।

(7) जिस मण्डल के चारों ओर श्मशान हो, वह मातृतन्त्र है और उसका अभाव हो तो वह पितृतन्त्र है ।

(8) प्रज्ञापारमिता के गम्भीर एवं महोपाय के साथ जहाँ निष्पन्नक्रम योग वर्णित हो वह मातृतन्त्र और स्वाधिष्ठान, अभिसंबोधिक्रम का प्रधान रूप से जिसमें निरूपण हुआ हो वह पितृतन्त्र है ।

(9) जिसमें नाड़ी का प्रधान रूप से निरूपण हुआ हो वह मातृतन्त्र और जिसमें वायु का प्रधान रूप से प्रतिपादन हुआ हो वह पितृतन्त्र है ।

(10) गुह्यसमाज के अनुसार जिसमें साधक के पंच स्कन्धों के विशुद्ध पांच तथागतों में परिणत होने की प्रक्रिया उपदिष्ट हो वह पितृतन्त्र और जहाँ पंचधातु को परिशुद्ध कर पांच देवियों में परिणत करने की प्रक्रिया वर्णित हो वह मातृतन्त्र है ।

(11) सूक्ष्म वायु की परिशुद्धि से पंचतथागत रूप में परिणत होने की साधना मातृतन्त्र है ।

(12) वज्रसत्त्व या वज्रधर द्वारा भट्टारक-भट्टारिकाओं के समूह में उपदिष्ट तन्त्र पितृतन्त्र और हेरुक या वज्रडाकिनियों द्वारा उपदिष्ट तन्त्र मातृतन्त्र है ।

(13) शास्ता वज्रधर द्वारा अनुचर बोधिसत्त्वों के मध्य विनेयजनों के निवेदन पर किया गया उपदेश पितृतन्त्र और मातृदेवियों के निवेदन पर उपदिष्ट तन्त्र मातृतन्त्र कहलाता है ।

(14) विनेयजनों के आधार पर पुरुषसमूह की प्रधानता वाला पितृतन्त्र और स्त्रियों के समूह की प्रधानता वाला मातृतन्त्र कहलाता है ।

ये भेद व्याप्ति के रूप में नहीं माने जा सकते । मात्र उनके प्रधान अङ्गों में न्यूनाधिक भाव के कारण भेद किया गया है ।

भोट देश के विद्वान् पद्मकरपो निष्पन्नक्रम की साधना के आधार पर अनुत्तरतन्त्र के तीन भेद करते हैं— जिसमें पंचक्रमानुसार निष्पन्नक्रम की भावना की जाती है, वह पितृतन्त्र, जिसमें चार मुद्राओं द्वारा निष्पन्नक्रम की भावना की जाती है वह मातृतन्त्र और प्रत्याहार, समाधि आदि षडङ्गयोग द्वारा जिसमें निष्पन्नक्रम की साधना की जाती है वह अद्वयतन्त्र है[1] । सिद्ध गोछङ पाद ने भी चक्रसंवर की व्याख्या में यही बात कही है[2] ।

खस्डुब जे आदि आचार्य अनुत्तरतन्त्र के पितृतन्त्र और मातृतन्त्र नामक दो ही विभाग कर गुह्यसमाज, कृष्णयमारितन्त्र, वैरोचन-मायाजाल, अनुत्तर-मायाजाल और वज्रसत्त्व-मायाजाल को पितृतन्त्र और चक्रसंवर, हेवज्र, कालचक्र, महामुद्रातिलक, महामाया, बुद्धकपाल आदि को मातृतन्त्र मानते हैं।

साक्या सम्प्रदाय के आचार्य छोसग्यल फगस्पा अद्वयतन्त्र में हेवज्र, उसका असामान्य व्याख्यातन्त्र वज्रपंजर, सामान्य व्याख्यातन्त्र सम्पुटतन्त्र, ज्ञानतिलक उत्तरतन्त्र, महामुद्रातिलक उत्तरोत्तरतन्त्र और तत्त्वप्रदीप तथा गुह्यप्रदीप, तत्त्वोपदेश, ज्ञानगर्भ योगिनीतन्त्र, नामसंगीति, कालचक्र आदि की गणना करते हैं । प्रज्ञातन्त्र में चक्रसंवर, महामाया, बुद्धकपाल आदि और उपायतन्त्र में गुह्यसमाज, वज्रमाला, कृष्णयमारितन्त्र आदि का समावेश करते हैं[3] ।

जमगोन् अमस् जब्स महायोगतन्त्र के तीन भेद करते हैं, यथा— पितृतन्त्र गुह्यसमाज और मातृतन्त्र चक्रसंवर हैं । अद्वयतन्त्र को पुनः आभ्यन्तर उदार और गम्भीरार्थविस्तार नामक दो भेद कर प्रथम में हेवज्र और द्वितीय में कालचक्र को गिनते हैं[4] । कर्मा योनतन ग्याछो नेयार्थ में पितृ, मातृ और अद्वयतन्त्र— ये तीन भेद करते हैं तथा नीतार्थ में सभी अनुत्तरतन्त्रों को अद्वयतन्त्र मानते हैं । उनका मत है कि उपाय में पितृदेव के उत्पत्तिक्रम और मन्त्र विधि की प्रधानता रहती है । मातृतन्त्र में मातृदेवी के उत्पत्तिक्रम और मन्त्रविधि के साथ अनेक महत्त्वपूर्ण उपायों की गम्भीरता रहती है । अतः पितृतन्त्र की अपेक्षा मातृतन्त्र गहन है[5] ।

---

1 क-बुम जि० 10, प० 38
2 सामान्य व्याख्यातन्त्र प० 8
3 लघु-सामान्यतन्त्र-जि० 7, पृ० 137, साक्या क-बुम ।
4 कृष्णयमारितन्त्र का इतिहास (तिब्बती संस्करण) प० 6ख
5 हेवज्र सामान्यार्थ (तिब्बती संस्करण) प० 9

आचार्य सेर तोगपा के अनुसार पितृतन्त्र और मातृतन्त्र का अभेद रूप ही अद्वयतन्त्र है । अर्थात् अद्वयतन्त्र कोई एक स्वतन्त्र तन्त्र नहीं है । पितृतन्त्र, उपायतन्त्र, डाकिनी मातृतन्त्र और योगिनीतन्त्र— ये सब नाम पर्याय है । प्रथम तन्त्र पितृतन्त्र कहलाता है, क्योंकि बुद्ध के रूपकाय का यह उपादान कारण एवं बीज सदृश है । यह तन्त्र प्रज्ञा और उपाय में उपाय अर्थात् आभास पक्ष है, अत: यह पितृसदृश है । द्वितीय तन्त्र मातृतन्त्र कहलाता है, क्योंकि मातृसदृश यह प्रज्ञातन्त्र प्रधानत: परमार्थ सत्य से अभिन्न महासुख ज्ञानस्वरूप में धर्मकाय का उपादान है, जो प्रज्ञा और उपाय में प्रज्ञा पक्ष है । पारमितानय में कहा है कि जैसे प्रज्ञापारमिता के विभिन्न उपायों से मिलने पर विभिन्न प्रकार के फलों की प्राप्ति होती है, यथा श्रावकत्व, प्रत्येकबुद्धत्व और बोधिसत्त्वत्व; उसी प्रकार तन्त्र में पितृसदृश देवकाय (उपाय) के मातृसदृश महासुख शून्यता (प्रज्ञा) से अभिन्न होने पर युगनद्धत्व की प्राप्ति होती है । लोक में भी पिता के अनुसार ही पुत्र का कुल निर्धारण होता है ।

इस पूरे प्रकरण का सारांश यह है कि अनुत्तरतन्त्र को मातृतन्त्र, पितृतन्त्र और अद्वयतन्त्र का नाम भोट आचार्यों ने दिया है । भारतीय आचार्यों के अनुसार तन्त्र को इस प्रकार स्पष्ट रूप से तीन भागों में विभक्त कर कहीं व्याख्या की गई हो, ऐसा प्रतीत नहीं होता । वज्रगर्भालङ्कार[1] में डाकिनी मातृतन्त्र और डाक पितृतन्त्रों को अन्तिम माना है । अत: इसी को आधार मानकर भोट देश के आचार्यों ने मातृतन्त्र, पितृतन्त्र और अद्वयतन्त्र का भेद कर दिया— ऐसा प्रतीत होता है । अन्यथा स्वतन्त्र रूप से यह अनुत्तरतन्त्र एक ही है । कालचक्र में आगत प्रज्ञा और उपाय तन्त्र भी स्वतन्त्र तन्त्र नहीं हो सकते, क्योंकि मात्र प्रज्ञा का प्रतिपादन कर उपायहीन होने पर वे युगनद्धकाय की प्राप्ति नहीं करा सकते। उसी प्रकार प्रज्ञारहित उपाय मात्र से भी युगनद्ध काय प्राप्त नहीं किया जा सकता । गुह्यसमाज आदि को जो आचार्य पितृतन्त्र का ग्रन्थ कहते हैं, उनके अनुसार उसमें भी प्रज्ञोपाय दोनों की अभिन्न रूप से व्याख्या तथा साधना पद्धति है । यथा—

प्रज्ञोपायसमापत्तिर्योग इत्यभिधीयते ।
योनिस्वभावत: प्रज्ञा उपायो भावलक्षणम् ।। (गु० स० 18.32)

हेवज्र मातृतन्त्र का ग्रन्थ कहलाता है, किन्तु उसमें भी प्रज्ञोपाय (मातृ-पितृ) अद्वय की भावना करने के लिए कहा गया है । यथा—

1 वज्रयान भूमिफल व्यवस्था, प० 22ख

हेकारेण महाकरुणा वज्रं प्रज्ञा च भण्यते ।
प्रज्ञोपायात्मकं तन्त्रं तन्मे निगदितं शृणु ।। (हे० तं०, 1.1.7)

इस प्रकार सभी अनुत्तरतन्त्र प्रज्ञोपाय युगनद्ध की ही व्याख्या करते हैं, स्वतन्त्र रूप से अलग-अलग नहीं । विशेष प्रयोजनों को लेकर नाम अलग-अलग दिये जाते हैं । साधना के समय मातृतन्त्री साधक प्रधान रूप से महासुख और शून्यता पर अधिक जोर देते हैं, जैसे कि वज्रपंजर के 13वें परिच्छेद में कहा गया है 'उपायभूत प्रज्ञापारमिता योगिनी-तन्त्र है' । महामुद्रा को आधार बनाकर योगी इसमें प्रविष्ट होता है । अतः इसे योगिनीतन्त्र कहते हैं[1] । अर्थात् मातृतन्त्र में चण्डाली आदि की प्रधान रूप से भावना कर उष्णीष कमल से शुक्र का अधःक्षरण और फिर ऊर्ध्व की ओर गति करने पर साधक चतुरानन्द और चतुः-शून्यता का साक्षात्कार करते हुए महासुख शून्यता में दृढ़ता प्राप्त करता है । तदनन्तर उस महासुख ज्ञान के आधार पर पांच रश्मि वाले वायु से मायाकाय में उत्थापित होने की प्रक्रिया मातृतन्त्र या हेवज्र में प्रधान रूप में निर्दिष्ट है । सहज प्रज्ञापारमिता का धर्मकाय की प्रापिका महासुख-शून्यता से अभिन्न रूप में योग होता है और यह शून्यतापक्ष में प्रज्ञा का अंश है । अतः प्रज्ञा को 'माँ' कहा गया है । पितृतन्त्र गुह्यसमाज आदि में डाकार्णव तन्त्र के अनुसार योगियों को प्रभास्वर-मायाकाय आदि की सिद्धि के द्वारा युगनद्धकाय की प्राप्ति की विधि बताई गई है । अर्थात् प्रभास्वर के उदयस्थान हृदयकमल में वायु क्रमशः विलीन होते हुए अनुलोमक्रम और प्रतिलोमक्रम में चार शून्यताओं का बोध कर आलोक, आलोकाभास और आलोकोपलब्धि के बाद प्रभास्वरता का साक्षात्कार करता है और प्रभास्वरता के आधार पंचरश्मि वाले वायु से मायाकाय में उत्थान होता है। इस विधि की इस (पितृतन्त्र) में प्रधानता है । पितृतन्त्र गुह्यसमाज है । इसकी उत्पन्नक्रमसम्बन्धी व्याख्या पंचक्रम में नागार्जुन ने विस्तार से कही है । यही विधि पितृतन्त्र की विधि कहलाती है ।

यद्यपि ये तीनों तन्त्र अद्वयतत्त्व का ही प्रतिपादन करतें हैं और साध्य की निष्पत्ति होने पर सब में अद्वयता समान है, लेकिन साधना विधि में सूक्ष्म प्राणवायु और सूक्ष्म चित्त के द्वारा प्रभास्वर मायाकाय और महासुख स्वरूप की साधना के भेदों में सूक्ष्म अन्तर इन ग्रन्थों में देखने को मिलते हैं ।

•

---

1 तो० 419. प० 54

बौद्धतन्त्र में जगत् के विमलदिव्यस्वरूप का विशिष्ट योग

—प्रो० थुबतेन छोगडुब—

[हमारे शरीर में अतिसूक्ष्म विमल दिव्य अंश रहता है, जिसे हम समझ नहीं सकते तथा हमें अवभासित भी नहीं होता, हमें केवल मांस, अस्थि, शुक्र-शोणित स्वरूप सास्रव शरीर ही प्रतीत होता है। तन्त्र में उक्त दिव्य विमल स्वरूपता देवकाय तथा देवमण्डल की भावना की जाती है, जो चरम प्रकर्षता की अवस्था में रूपकाय बन जाता है। न केवल अपने शरीर में, अपितु समस्त पदार्थों में विमल अंश विद्यमान होता है। जगत् की इस विमल स्वरूपता का परिज्ञान तन्त्र मार्ग द्वारा ही हो सकता है। विशिष्ट सजातीय हेतु द्वारा रूपकाय की सिद्धि तन्त्रयान की अपनी विशेषता है। संक्षेप में इस योग को यहाँ प्रस्तुत किया गया है।]

भारतीय संस्कृति की परम्परा में तन्त्र का विशिष्ट स्थान है। विशेषतः महायान में तन्त्र का स्थान सबसे ऊँचा है। ऐतिहासिक घटनाओं के क्रम में वैभाषिक आदि प्राचीन बौद्ध निकायों ने महायान सूत्रों को अस्वीकृत कर दिया था। इसलिए लगभग सभी महायान आचार्यों ने अनेक युक्तियों द्वारा महायान सूत्रों को बुद्ध-वचन सिद्ध किया है[1]। जिन युक्तियों से प्रज्ञापारमितादि सूत्र बुद्धवचन सिद्ध होते हैं, उन युक्तियों से तन्त्रागम भी बुद्धवचन सिद्ध होते हैं। अतः बौद्ध तन्त्रागमों का बुद्धवचनत्व अभ्युपगम्य है। कतिपय इतिहासकारों का यह मानना है कि बौद्धतन्त्रागम बहुत बाद में प्रादुर्भूत हुए थे। परन्तु इसका कोई भी निश्चित प्रमाण नहीं है। यह विषय अतिगम्भीर होने के कारण इतिहासकारों के अनुमान से परे हैं। सम्पूर्ण महायान पिटक विशेषतः तन्त्रयान बड़े-बड़े अर्हतों के भी बोध का विषय नहीं हो पाया तो साधारण लोगों द्वारा अवगम्य कैसे हो सकता है, अर्थात् नहीं हो सकता। आचार्य शान्तिदेव ने ठीक ही कहा था कि—

महाकाश्यपमुख्यैश्च यद्वाक्यं नावगाह्यते ।
तत् त्वयानवबुद्धत्वादग्राह्यं कः करिष्यति ।।

---

1. महायानसूत्रालङ्कार, प्रथम अधिकार (महायान सिद्ध्यधिकार) में, भावविवेक के ''माध्यमिकहृदय'' तथा उसकी स्ववृत्ति ''तर्कज्वाला'' में, नागार्जुन के मूलमाध्यमिक कारिका में तथा शान्तिदेव के बोधिचर्यावतार में महायानसूत्रों को बुद्धवचन सिद्ध किया है। उनमें से महायानसूत्रालङ्कार का तो पूरा एक परिच्छेद (प्रथम) ही उसी के लिए है जिसे ''महायानसिद्ध्यधिकार'' कहते हैं। तर्कज्वाला में भावविवेक ने पक्ष-विपक्ष के समस्त विचार प्रस्तुत कर अति विस्तार से महायान सूत्रों का बुद्धवचनत्व सिद्ध किया है। अन्य महायानाचार्यों ने भी कम या अधिक शब्दों में महायान सूत्रों को बुद्धवचन सिद्ध किया है।

तन्त्र का उद्देश्य—बहुत से लोग ऐसा सोचते हैं कि तन्त्र का उद्देश्य कुछ चमत्कार तथा सिद्धियों तक सीमित है। बौद्धतन्त्र के विषय में ऐसी धारणा सर्वथा गलत है। बुद्ध के समस्त वचनों एवं उपदेशों का उद्देश्य निर्वाण या बुद्धत्व की प्राप्ति है। महायान सूत्रों का उद्देश्य बुद्धत्व-प्राप्ति है। अतः तन्त्रागम या तन्त्रयान का उद्देश्य भी बुद्धत्व-प्राप्ति ही है। तन्त्र का उद्देश्य केवल बुद्धत्व की प्राप्ति ही नहीं, अपितु उसे शीघ्रातिशीघ्र प्राप्त करना होता है। बुद्धत्व प्राप्ति का अर्थ है सम्बद्ध साधक का बुद्ध के रूप में परिणत हो जाना। बुद्ध के समीप में पहुँच जाना या किसी अन्य बुद्ध में मिल जाना आदि उसका अर्थ नहीं है।

पारमितायान से वैधर्म्य—यद्यपि पारमितायान एवं तन्त्रयान दोनों का उद्देश्य बुद्धत्व की प्राप्ति है और दोनों यानों द्वारा प्राप्य बुद्धत्व में भी कोई भेद नहीं है तथापि बुद्धत्व प्राप्त करने के मार्ग में बहुत अन्तर है। तन्त्रयान में अमोहत्व, उपायनानात्व, अदुष्करत्व एवं तीक्ष्णेन्द्रियत्व की विशेषता है जो पारमितायान में नहीं है। न्यायत्रयप्रदीप में कहा गया है कि—

एकार्थत्वेऽप्यसंमोहाद् बहूपायाददुष्करात् ।
तीक्ष्णेन्द्रियाधिकाराच्च मन्त्रशास्त्रं विशिष्यते ।।

फलरूपी बुद्धत्व की प्राप्ति हेतु मार्ग में भी वह तत्त्व होना परमावश्यक है जो फलभूत बुद्धत्व में है। जिस प्रकार संसारिक जीवों के देह और मन होते हैं, उसी प्रकार बुद्धकाय भी दो प्रकार का होता है—धर्मकाय और रूपकाय। समस्त आवरणों का क्षय एवं तद्युक्त सर्वज्ञज्ञान धर्मकाय है। धर्मकाय अतिविशुद्ध, विमल, अत्यन्तकुशल एवं महासुखात्मक है। यह अनन्त स्वरूपी धर्मकाय जीवों का अगोचर है।

बत्तीस महापुरुष लक्षणों एवं अस्सी अनुव्यञ्जनों से युक्त दिव्य एवं अलौकिक काय रूपकाय है। यह अनुपम, अप्रमेय, अतुल्य एवं अनास्रवस्वरूप है एवं यह विशुद्धकाय दृष्टिसम्पन्न सत्त्वों के गोचर है। प्रयोजनवश इसके रौद्ररूपादि विभिन्न रूप भी अनाभोगेन प्रकट होते हैं, जो विभिन्न तन्त्रागमों में प्रदर्शित हैं।

कायद्वय का हेतु या प्राप्ति का मार्ग—साधारणतया प्रज्ञापारमितायान में उक्त दो कायों के हेतु के रूप में दो सम्भारों की व्यवस्था होती है। रूपकाय का हेतु पुण्यसम्भार और धर्मकाय का हेतु ज्ञानसम्भार है। दानादि पारमिताएं पुण्यसम्भार हैं तथा शून्यता की भावना ज्ञानसम्भार है। यद्यपि पारमितायान में "क्षेत्रपरिशुद्धि" का प्रयोग भी निर्दिष्ट है;

तथापि वह प्रयोग भी पुण्यसम्भार में संगृहीत है, वह रूपकाय का सजातीय हेतु नहीं है। जहाँ तक धर्मकाय के हेतु का प्रश्न है, वहां शून्यता या नि:स्वभावता की भावना सजातीय हेतु है। परन्तु रूपकाय के सजातीय हेतु की व्यवस्था वैसी नहीं है जैसी तन्त्रयान में निर्दिष्ट है। इसलिए पारमितायान द्वारा बुद्धत्व प्राप्त करने में अत्यधिक समय लगता है और अधिक दु:साध्य होता है।

न्यायसंगत सिद्धान्त यह है कि विषम या विजातीय हेतु से फल की उत्पत्ति असम्भव है। अत: कायद्वय के भी सजातीय हेतु का होना परमावश्यक है। ऐसा सजातीय हेतु तन्त्रागम में ही प्रतिपादित है। देवमण्डल एवं दिव्यकाय का विशिष्ट योगाभ्यास आदि रूपकाय का सजातीय हेतु है।

देवमण्डल एवं दिव्यकाय की विशिष्टभावना

देवमण्डल एवं दिव्यकाय का योग केवल काल्पनिक तथा तर्कहीन नहीं है; अपितु सत्य एवं युक्ति पर आधारित है। जिस प्रकार जीवावस्था में देह और मन या काय और चित्त दो होते हैं, उसी प्रकार बुद्धावस्था में भी काय और चित्त दो होते हैं। जीवावस्था का देह जड़स्वरूप एवं सास्रव होता है; पर बुद्धावस्था में जड़विहीन दिव्यकाय होता है तथा अनास्रव होता है। जीवावस्था में चित्त मलिन एवं दूषित होता है पर बुद्धावस्था में चित्त निर्मल एवं सर्वावरणों से शुद्ध होता है।

जीवावस्था का चित्त बुद्धावस्था के सर्वज्ञज्ञान के रूप में परिवर्तित हो जाता है। परन्तु जीवावस्था का स्थूल देह बुद्धावस्था के रूपकाय के रूप में परिवर्तित नहीं होता है। ऐसी स्थिति में यह प्रश्न हो सकता है कि बुद्ध के रूपकाय के सजातीय हेतु कौन सा है? क्या रूपकाय विषम हेतु से प्रादुर्भूत है? इस प्रश्न का समाधान केवल तन्त्रयान में मिल सकता है। सर्वविदित है कि समस्त जीवों में तथागतगर्भ होता है जिससे सभी बुद्धत्व प्राप्ति के योग्य हो जाते हैं।

हमारे शरीर में एक अतिसूक्ष्म विमल-दिव्य अंश रहता है, जिसे हम समझ नहीं सकते हैं तथा हमें अवभासित भी नहीं होता है। हमें तो केवल मांस, अस्थि, शुक्र-शोणित आदि स्वरूप सास्रव शरीर ही प्रतीत होता है। उतना ही नहीं, हमें तो अपने आस-पास के सभी क्षेत्र भी समल तथा अशुद्ध और कूड़ा-कचड़ों से भरे दिखाई देते हैं। परन्तु यथार्थता यह है कि हमारे शरीर दिव्यस्वरूप हैं तथा सम्पूर्ण भाजनलोक दिव्य एवं विमल स्वरूप हैं। इस दिव्य तथा शुद्ध स्वरूप का दर्शन भी विमल ज्ञान द्वारा ही सम्भव है।

उसी प्रकार सभी पदार्थ हमें स्वभावतः सत् दिखाई देते हैं। हम पदार्थों की निस्स्वभावता को समझते नहीं हैं। निस्स्वभावता का बोध तो उच्च अवस्था प्राप्त होने पर ही सम्भव होता है। विमलस्वरूप होते हुए भी समलता का अवभास एवं निस्स्वभाव-स्वरूप होते हुए भी सस्वभावता का अवभास होने में समान युक्ति है।

योगाचारवाद के अनुसार एक ही जलस्रोत देवताओं को अमृत, मानवों को साधारण जल और प्रेतों को पूय-रक्तस्रोत दिखाई देता है। तीनों प्रकार का ज्ञान अविसंवादक है। क्योंकि एक ही जलस्रोत के तीन अंशों को अपने-अपने कर्मानुसार अमृत आदि समझते हैं। वस्तुतः तीनों अंश उसी जल में विद्यमान होते हैं। योगाचारवाद तो विज्ञप्तिवाद है जिसमें बाह्यार्थ का अस्तित्व नहीं होता है। प्रासङ्गिक माध्यमिकवाद के अनुसार भी समस्त धर्म प्रतीत्यसमुत्पन्न होते हैं। इसलिए सभी निस्स्वभाव होते हैं। सभी स्वभावतः शुद्ध होते हैं।

उसी प्रकार यह सिद्ध किया जा सकता है कि एक ही शरीर में सास्रवांश एवं विमल-दिव्य अंश भी विद्यमान है। उपायकुशलता और पुण्य-ज्ञान सम्भारों के द्वारा उस विमल एवं दिव्यस्वरूप का अवबोध हो सकता है।

अतः तन्त्रयान में उक्त दिव्य-विमलस्वरूप देवकाय तथा देवमण्डल की भावना की जाती है, जो चरम प्रकर्षतावस्था में रूपकाय बन जाता है। न केवल अपने शरीर में अपितु समस्त पदार्थों में विमल अंश विद्यमान होता है। जगत् के इस विमल-दिव्यस्वरूप का परिज्ञान तन्त्रमार्ग द्वारा ही हो सकता है।

विमल-दिव्यस्वरूप देवमण्डल का योग एवं निःस्वभावता का योग एकात्मक-रूपेण "युगलयोग" तन्त्रयान की विशेषता है। विमल-दिव्यकाय एवं शून्यता के साक्षात्कार के लिए विभिन्न उपाय तन्त्रयान में निर्दिष्ट हैं। इन उपायों में नाड़ी, वायु एवं तिलक की परिशुद्धि आदि महत्त्वपूर्ण हैं। उक्त युगलयोग रूपकाय एवं धर्मकाय का सम्पादन करता है। शून्यता एवं देवमण्डल सहित दिव्यकाय योग की परम प्रकर्षता आने पर बुद्धत्व की प्राप्ति होती है। इस प्रकार उत्पन्नक्रम तथा सम्पन्नक्रम के युगलयोग से तन्त्र के साधक शीघ्रातिशीघ्र उस बुद्धत्व को प्राप्त करते हैं, जो निःशेष सत्त्वों के परमहित का सम्पादन करता है।

अहो सुदुर्लभमिदमुपायं बोधिसाधनम् ।
तन्त्रं गुह्यसमाजाख्यं तन्त्राणामुत्तरोत्तरम् ।।

•

दुर्लभ ग्रन्थों की आधार सामग्री

—ठाकुरसेन नेगी—

[इस शीर्षक के अन्तर्गत 'धी:' के 26वें अंक में 56 महत्त्वपूर्ण हस्तलिखित ग्रन्थों की सूचना दी गई थी, प्रस्तुत अंक में अन्य 94 हस्तलिखित ग्रन्थों की सूचना दी जा रही है ।]

ABBREVIATIONS

ASB	Sanskrit Manuscripts in the Government Collection, ed. by H.P. Shastri, Asiatic Society of Bengal, 1917.
ASHA	Asha Archives, Maitidevi, Kathmandu, Nepal.
BODLEIAN	Catalogue of Sanskrit Manuscripts in the Bodleian Library, Vol.II, 1905.
CAMBRIDGE	Catalogue of the Buddhist Manuscripts in the University Library, Cambridge, ed. by Cecil Bendall, Cambridge, 1883.
COMP./INCOMP.	Complete/Incomplete.
D-2	A Catalogue of Palm-Leaf and Selected Paper Manuscripts belonging to the Darbar Library, Nepal, ed. by H.P. Shastri, Calcutta, 1915.
DEV.	Devanāgarī.
IASWR	Buddhist Sanskrit Manuscripts, Micro-Fische Collection belonging to the Institute for Advance Studies of World Religions, New York.
JBORS	The Journal of the Bihar and Orissa Research Society, Patna.
MCBMBLJ	A Microfilm Catalogue of the Buddhist Manuscripts in Nepal, ed. by H. Takaoka, Buddhist Library, Japan, 1981.
N	Newārī script.
NP/PL	Nepali Paper/Palm Leaf.
NEPAL-II	Catalogue of Darbar Library, Nepal, Vol.II.
PETROGRAD	Catalogue of Indian Manuscripts, Collection of E.P. Minaev and Some friends, compiler N.D. Mironoff, Published by the Russian Academy of Sciences, Petrograd, 1918.
RAK	Rāṣṭriya Abhilekhālaya, Kathmandu, Nepal.
RAS	Catalogue of Buddhist Sanskrit Manuscripts in the Possession of the Royal Asiatic Society, (Hodgson Collection) London.
SMTUL	A Catalogue of the Sanskrit Manuscripts in the Tokyo University Library, Tokyo, Japan, 1965.

Title	Author	Institution	Ms. No.
अक्षोभ्यपूजाविधि Akṣobhyapūjāvidhi		RAK	Reel No. E. 1258/12
अक्षोभ्यमण्डलक्रियाविधि Akṣobhyamaṇḍalakriyāvidhi		"	Reel No. E.1498/4
अग्निस्थापनविधि (होमविधि) Agnisthāpanavidhi (Homavidhi)		"	Reel No. E.1726/10
अचलाविधि Acalāvidhi		"	Reel No. E.1999/8
अचलाभिषेक (दीक्षाविधान) Acalābhiṣeka (Dīkṣāvidhāna)		"	Reel No. E.1258/2
अनुत्तरसत्त्वविवृति Anuttarasattvavivṛti		JBORS	XVIII.4-258
अनुत्तरसंवर Anuttarasaṁvara		"	XVIII.3-96
अमोघपाशपूजाविधि Amoghapāśapūjāvidhi		RAK	Reel No. E.1848/12

Material	Script	Folio	Comp./Incomp.	Other Information
NP	Dev.	16	Comp.	
"	N	22	"	
"	"	14	"	
"	"	19	Incomp.	
"	"	23	Comp.	
Paper	Māgadhī	8	"	
"	"	21	"	
"	"	7	"	

Title	Author	Institution	Ms. No.
अमोघाष्टमीव्रतविधि Amoghāṣṭamīvratavidhi		RAK	Reel No. E.1499/4
अशोकदेशना Aśokadeśanā		Nepal-II	
अष्टपीठपूजाविधान Aṣṭapīṭhapūjāvidhāna		RAK	Reel No. E.1490/15
अष्टमङ्गलगाथा Aṣṭamaṅgalagāthā		IASWR	MBB-II-128
अष्टमीव्रतमहिमा Aṣṭamīvratamahimā		RAK	Reel No. E.378/3
अस्थिप्रक्षालनविधि Asthiprakṣālanavidhi		"	Reel No. E.1492/7
अहोरात्रमाहात्म्य Ahorātramāhātmya		"	Reel No. E.1549/27
आचार्यदेशना Ācāryadeśanā		"	Reel No. E.1256/2

Material	Script	Folio	Comp./Incomp.	Other Information
NP	N	7	Comp.	
"	"	59	"	Page No .239
"	Dev.	67	"	
"	N	23	"	
"	"	209	"	
"	"	31	Incomp.	
"	"	286	Comp.	
"	"	3	Incomp.	

Title	Author	Institution	Ms. No.
आचार्यपूजाविधि Ācāryapūjāvidhi		RAK	Reel No. E.1866/12
आदिकर्मावतार Ādikarmāvatāra	मञ्जुकीर्ति Mañjukīrti	JBORS "	Vol. I.7-58 Vol. I.9-55
आदिनाथकथा Ādināthakathā		RAK	Reel No. E.1444/3
आदियोगनामसमाधि Ādiyoganāmasamādhi		"	Reel No. E.1243/5
आदियोगसमाधिजपयोग Ādiyogasamādhijapayoga		"	Reel No. E.1743/12
आर्यमणिभद्रजम्भलहृदय Āryamaṇibhadrajambhalahṛdaya		"	4/946
आर्यमहामन्त्रानुसारिणी Āryamahāmantrānusāriṇī		" "	4/1029 4/1616
उग्रतारासमाधि (षोडशचन्द्रमण्डलपूजाविधि) Ugratārāsamādhi (Ṣoḍaśacandramaṇḍalapūjāvidhi)		"	Reel No. E.701/7

Material	Script	Folio	Comp./Incomp.	Other Information
NP	N	5	Comp.	
Paper	Māgadhī	13	"	
"	"	5	"	
NP	N	30	"	
"	"	40	"	
"	"	19	Incomp.	
"	Rañjanā	33	Comp.	
"	N	60	"	
"	Rañjanā	8	"	
"	N	16	"	

Title	Author	Institution	Ms. No.
उत्पत्तिक्रमसाधन Utpattikramasādhana		JBORS	VIII.4-47
उत्पातलक्षणशुभाशुभपरीक्षण Utpātalakṣaṇaśubhāśubhaparīkṣaṇa		IASWR	MBB-I-127
उत्पातशान्तिविधि Utpātaśāntividhi		RAK	Reel No. E.1867/16
उपोसथव्रतविधि Uposathavratavidhi		"	Reel No. E.1341/2
करवीरतन्त्रटीका Karavīratantraṭīkā		MCBMBLJ	CH.428
कलशपूजाविधि Kalaśapūjāvidhi		RAK	Reel No. E.1866/18
करुणासाधन Karuṇāsādhana		"	Reel No .I.4/11
कुमारीतन्त्र Kumārītantra		Nepal-II	III.264B

Material	Script	Folio	Comp./Incomp.	Other Information
Paper	N	28	Comp.	
NP	"	6		
"	"	3	"	
"	Dev.	35	"	
"	N	30		Missing f.31
"	"	21	"	
"	"	5	Incomp.	
"	"	15		

Title	Author	Institution	Ms. No.
कुमारीपूजा Kumārīpūjā		IASWR	MBB-II-198
		"	MBB-II-298
कुमारीपूजाविधि Kumārīpūjāvidhi		RAK	1/1607
		"	Reel No. E.1498/16
कुलदेवतानित्यपूजाविधि Kuladevatānityapūjāvidhi		"	Reel No. E.1258/9
केशबन्धनविधि Keśabandhanavidhi		"	Reel No. E.1498/5
क्रोधाग्निविधि Krodhāgnividhi		"	Reel No. E.1364/4
गणचक्रगाथा Gaṇacakragāthā		"	Reel No. E.934/5
		"	Reel No. E.1194/4
गणचक्रत्रिसमाधिविधि Gaṇacakratrisamādhividhi		"	Reel No. E.1545/22

Material	Script	Folio	Comp./Incomp.	Other Information
NP	N	16		
"	"	15		
PL	Bhujimol	3		
NP	Dev.	14	Comp.	
"	N	9	Incomp.	
"	"	10	Comp.	
"	"	1	"	
"	"	12	"	
"	"	4	"	
"	"	60	"	

Title	Author	Institution	Ms. No.
गुरुपूजाविधि Gurupūjāvidhi		RAK "	Reel No. E.1258/15
गुरुमण्डलविधि Gurumaṇḍalavidhi		" "	Reel No. E.315/3 Reel No. E.1860/3
गुरुमण्डलपूजाविधि Gurumaṇḍalapūjāvidhi		" "	Reel No. I.7/31 Reel No. E.1259/7 Reel No. E.1260/21
गुरुमण्डलसमाधि Gurumaṇḍalasamādhi		"	Reel No. E.1548/16
गुह्यतन्त्रविधान Guhyatantravidhāna		MCBMBLJ	GA.31
गुह्यातिगुह्यमहातन्त्र Guhyātiguhyamahātantra		RAK	Reel No. A.139/4

Material	Script	Folio	Comp./Incomp.	Other Information
NP	Dev.	10	Comp.	
"	N	11	Incomp.	
"	Dev.	4	Comp.	
"	N	13	Incomp.	
"	Dev.	11	"	
"	N	16	Comp.	
"	"	7	Incomp.	
"	"	59	Comp.	
"	"	144	"	

Title	Author	Institution	Ms. No.
ग्रहमण्डल Grahamaṇḍala		RAK	Reel No. E.1259/11
ग्रहमातृकाप्रत्यङ्गिरा उष्णीष Grahamātṛkāpratyaṅgirā Uṣṇīṣa		"	4/127
ग्रहशुद्धिक्रियाविधि Grahaśuddhikriyāvidhi		"	Reel No. I.7/25
चक्रसंवरत्रिसमाधि Cakrasaṁvaratrisamādhi		"	Reel No. E.973/27
चक्रसंवरदर्शनविधि Cakrasaṁvaradarśanavidhi		"	Reel No. E.1547/10
चक्रसंवरमण्डल Cakrasaṁvaramaṇḍala		"	Reel No. E.933/17
चक्रसंवररहस्यार्चनविधि Cakrasaṁvararahasyārcanavidhi		"	Reel No .E,1492/6

Material	Script	Folio	Comp./Incomp.	Other Information
NP	N	1	Comp.	
"	Rañjanā	19	"	
"	N	17	Incomp.	
"	"	33	Comp.	
"	"	5	"	
"	"	12	"	
"	"	19	Incomp.	

Title	Author	Institution	Ms. No.
चक्रसंवरवज्रवाराहीपूजाविधि Cakrasaṁvaravajravārāhīpūjāvidhi		RAK	Reel No. E.1341/27
चक्रसंवरादिबन्धदेवदेवीपूजाविधि Cakrasaṁvarādibandhadeva-devīpūjāvidhi		"	Reel No. E.338/34
		"	Reel No. E.338/35
चक्रसंवरसमाधि Cakrasaṁvarasamādhi		"	Reel No. E.620/12
		"	Reel No. E.620/16
		"	Reel No. E.1487/13
		"	Reel No. E.1724/7
		"	Reel No. E.1726/6
		"	Reel No. E.1790/29
चण्डमहारोषणदेवसाधन Caṇḍamahāroṣaṇadevasādhana		MCBMBLJ	CH.75
चण्डमहारोषणनित्यार्चनविधि Caṇḍamahāroṣaṇanityārcanavidhi		RAK	Reel No. E.1730/6
चण्डमहारोषणमुखाख्यान Caṇḍamahāroṣaṇamukhākhyāna		"	Reel No. E. 1726/8

Material	Script	Folio	Comp./Incomp.	Other Information
NP	N	81	Comp.	
"	"	34	Incomp.	
"	"	21	"	
"	"	24	Comp.	
"	"	24	"	
"	"	16	"	
"	"	12	"	
"	"	12	"	
"	"	35	"	
"	"	86		
"	"	6	"	
"	"	26	"	

Title	Author	Institution	Ms. No.
चतुर्दशलोकपूजा Caturdaśalokapūjā		RAK	Reel No. E.1866/16
चतुष्पीठबलिविधि Catuṣpīṭhabalividhi		"	Reel No. E.1867/5
चैत्यद्वादशक Caityadvādaśaka		"	Reel No. E.1726/9
चैत्यनिर्माणविधि Caityanirmāṇavidhi		"	Reel No. H.192/8
चैत्यपुद्गलसूत्र Caityapudgalasūtra		SMTUL CAMBRIDGE RAS	128 1405 22
जलयज्ञविधि Jalayajñavidhi		" "	Reel No. E.1866/20 Reel No. E.1881/17
जीर्णोद्धारविधि Jīrṇoddhāravidhi		"	Reel No. E.1503/13
जीवन्यासविधि Jīvanyāsavidhi		"	Reel No. E.1867/13

Material	Script	Folio	Comp./Incomp.	Other Information
NP	N	7	Comp.	
"	"	8	"	
"	"	23	Incomp.	
"	"	7	"	
Paper	"	24	Comp.	
"	"	55		
"	"	12		
NP	"	7	"	
"	"	22	"	
"	"	33	Incomp.	
"	"	7	Comp.	

Title	Author	Institution	Ms. No.
ज्ञानसारसमुच्चय Jñānasārasamuccaya	आर्यदेव Āryadeva	JBORS	X.7-37
●			
डाकार्णवमन्त्रोद्धार Ḍākārṇavamantroddhāra		RAK	Reel No. E.1489/4
तत्त्वविधिज्ञानचर्या Tattvavidhijñānacaryā		"	Reel No. E.258/13
तत्त्वसंसिद्धिपञ्जिका(मर्मकलिका) Tattvasaṁsiddhipañjikā(Marmakalikā)		" " " "	Reel No. B.23/16 Reel No. B.90/10 Reel No. B.109/22 Reel No. E.1731/23
तथागतज्ञानस्तुतिगाथा Tathāgatajñānastutigāthā		BODLEIAN	1445
ताराभक्तिसुधार्णव Tārābhaktisudhārṇava		SMTUL	156
ताराव्रतविधि Tārāvratavidhi		RAK	Reel No .E.255/26

Material	Script	Folio	Comp./Incomp.	Other Information
Paper	Vartul	3	Comp.	
NP	N	12	Incomp.	
"	Dev.	51	Comp.	
"	N	41	"	
"	Dev.	34	"	
"	N	37	"	
"	"	130	"	
Paper	"	24	Incomp.	
"	"	220	"	
NP	"	23	Comp.	

Title	Author	Institution	Ms. No.
ताराशतक Tārāśataka		RAK	Reel No. E.612/7
तीर्थमाहात्म्य Tīrthamāhātmya		"	Reel No. A.121/8
तीर्थरञ्जन Tīrtharañjana		"	4/1031
त्रिरत्नाष्टकस्तोत्र Triratnāṣṭakastotra		"	Reel No. I.4/1
दशलोकपालस्तव Daśalokapālastava		"	Reel No. E.314/4
दशाग्निध्यानविधि Dasāgnidhyānavidhi		"	Reel No. E.1867/17
दशाभिषेकविधि Daśābhiṣekavidhi		"	Reel No. E.1790/30
		"	Reel No. E.1881/10

Material	Script	Folio	Comp./Incomp.	Other Information
NP	N	7	Comp.	
"	"	69		
"	"	Folding Book		
"	"	1	Comp.	
"	"	7	Incomp.	
"	"	5	Comp.	
"	"	21	Incomp.	
"	"	43	"	

Title	Author	Institution	Ms. No.
दानगाथा		RAK	Reel No. E.1496/4
Dānagāthā		"	Reel No. E.1499/11
दीक्षाकर्मविधि		MCBMBLJ	CH.31
Dīkṣākarmavidhi		"	CH.251
दीक्षाविधान		"	CH.102
Dīkṣāvidhāna		"	CH.153
		"	379
		RAK	Reel No. E.1490/5
दीक्षाविधि		"	Reel No. E.1299/12
Dīkṣāvidhi		"	Reel No. E.1494/3
दुर्गतिपरिशोधनशाक्यमुनिमण्डलपूजाविधि		MCBMBLJ	KA.6
Durgatipariśodhanaśākya-munimaṇḍalapūjāvidhi			
देवप्रतिमालक्षण		RAK	Reel No. E.1499/5
Devapratimālakṣaṇa			
दोहागीतसंग्रह		"	Reel No. B.286/6
Dohāgītasaṁgraha			

Material	Script	Folio	Comp./Incomp.	Other Information
NP	N	13	Incomp.	
"	"	13	Comp.	
"	"	133		
"	"	199		
"	"	87	"	
"	"	210		
"	"	81		
"	"	4		
"	"	21	Incomp.	
"	"	83	"	
"	"	110		
"	"	14	Comp.	
"	"	39		

Title	Author	Institution	Ms. No.
द्वादशसाहस्त्रिकामहाप्रत्यङ्गिरा Dvādaśasāhasrikāmahāpratyaṅgirā		MCBMBLJ	CA.18
धर्मधातुपूजाविधि Dharmadhātupūjāvidhi		"	KA.27
धर्मधातुमण्डलपूजा Dharmadhātumaṇḍalapūjā		"	KH.9
नक्षत्रमाला Nakṣatramālā		" "	CH.109 CH.173
नवग्रहनामविधि Navagrahanāmavidhi		SMTUL	206-2
नवग्रहपूजाविधि Navagrahapūjāvidhi		RAK	4/1054
नागपूजाविधि Nāgapūjāvidhi		"	Reel No. E.1698/6

Material	Script	Folio	Comp./Incomp.	Other Information
NP	N	28	Comp.	
"	Dev.	89		
"	N	69		
"	"	54		
"	"	145		
Paper	"	52		
NP	"	Folding Book		
"	"	15	Comp.	

●

अभिषेक की उपयोगिता

—छोग दोर्जे—

[विभिन्न तन्त्रों की उत्कृष्टता के अनुसार अभिषेकों का भी वर्गीकरण होता है। कलश अभिषेक का विधान क्रियातन्त्र आदि चारों तन्त्रों में अल्पाधिक उपलब्ध होता है, लेकिन शेष गुह्यादि अभिषेक का विधान मात्र अनुत्तरतन्त्र की साधना एवं साधकों के लिए ही होता है। शेष योग आदि तीनों तन्त्रों के साधकों के लिए नहीं। प्रस्तुत लघु निबन्ध में अभिषेक का स्वरूप, भावार्थ, वर्गीकरण, अभिषेक के अभाव में साधना में दोष एवं अभिषेक के गुण पर प्रकाश डाला गया है।]

अभिषेक का तन्त्र में महत्त्वपूर्ण स्थान है, इसे प्राप्त किये बिना तन्त्र की देशना, श्रवण, चिन्तन अथवा मनन करना वर्जित है और इसके अभाव में तन्त्र में प्रवेश लेना या साधना करना निष्फल ही नहीं, अपितु साधक को नरक का भागी बनाता है।

बुद्धकपालतन्त्र के पाँचवें पटल देव उत्पत्ति और अभिषेक में उद्धृत किया है[1] कि जैसे वीणा के अन्य सभी तन्तुओं के सम्पन्न होने पर भी यदि बजाने वाला विज्ञ न हो तो आवाज न निकलने की तरह अभिषेक के अभाव में साधना करे भी तो सिद्धि की प्राप्ति न होगी। सामान्यतया अभिषेक का अभिप्राय विशेष अधिकार की प्राप्ति से है, जैसे वाहनों में यात्रा के लिए टिकट लेना आवश्यक होता है, अन्यथा दण्ड का भागी बनता है, उसी प्रकार तन्त्र में प्रवेश के लिए अभिषेक प्राप्त करना जरूरी एवं अनिवार्य है।

महासुखज्ञानस्वरूप स्वकाय-वाक्-चित्त में अखण्डित रूप में स्थित होना एवं उसका वज्राचार्य द्वारा अनेक उपायों से बोध कराना अभिषेक का विशेषार्थ है।

अभिषेक वज्रयान मार्ग का एक अपरिहार्य अंग है। इसे पाँच भागों में विभक्त किया जाता है—

(1) अभिषेक का स्वभाव
(2) भावार्थ
(3) वर्गीकरण
(4) अभिषेक के अभाव में साधना का दोष
(5) अभिषेक के गुण

---

1. तो० 424, पृ० 150

अभिषेक का स्वभाव

सम्यक् अभिषेक द्वारा स्कन्ध-धातु और आयतनों की विशुद्धि के फलस्वरूप चार कायों (धर्म, सम्भोग, निर्माण और महासुखकाय) की प्राप्ति के बीज का आरोपण एवं सन्तति का परिपाक कराना ही अभिषेक का स्वरूप एवं स्वभाव है। परिपक्वता की सीमा को स्पष्ट करते हुए महायानसूत्रालंकार[1] में कहा गया है—

व्रणेऽपि भोज्ये परिपाक इष्यते यथैव तत्स्रावणभोगयोग्यता।
तथाश्रयेऽस्मिन्द्वयपक्षशान्तता[तां] तथोपभोगत्वसुशान्तपक्षता[मुशन्तिपक्वताम्]।।

जैसे घाव होने पर अथवा जौ आदि अन्न का हेतु अभी परिपक्व न होने पर भी क्रमशः परिवर्तित होने पर ज्यादा समय न लगाते हुए घाव से पीव गिरता है तथा अन्न उपभोग करने योग्य पक जाता है, उसी तरह पारमितायान में दर्शन मार्ग में हेय का परित्याग और ज्ञान उत्पत्ति के अभिमुख होने की अवस्था को साधक की परिपक्वता की सीमा-रेखा माना जाता है। यहाँ तन्त्र में क्रमद्वय के गम्भीरोदार विषयों का प्रतिपादन और भावना करने की पात्रता की प्राप्ति का भागी होना ही तन्त्र में परिपक्वता की उपलब्धि माना जाता है।

भावार्थ

'अभिसिंच्यते' शब्द से सिंचन जैसे जल से सींचना, स्नान करने के सदृश आवरणों को नष्ट कर निर्वाण के मार्ग पर प्रतिष्ठित करना अर्थात् साधक की सन्तति को परिशुद्ध कर विशुद्धज्ञान को उसमें उड़ेलना या लगाना ही अभिषेक है। हेवज्र में कहा है[2]—

सेकं चतुर्विधं ख्यातं सत्त्वानां सिद्धिहेतवे ।
सिच्यते स्नाप्यतेऽनेनेति सेकस्तेनाभिधीयते ।।

अद्वयवज्रसंग्रह में भी अभिषेक को स्पष्ट करते हुए कहा है[3]—

बाह्यवारिणेव बाह्यमलस्य अविद्यामलक्षालनाय सिच्यतेऽनेनेति।

मञ्जुश्रीमुखागम में भी अभिषेक का अर्थ डालना, छिड़कना और विशुद्ध करने से आचार्य महान् होता है ऐसा प्रतिपादित किया है। इसकी टीका में डालने का अर्थ सामान्य

---

1. म० सू० लं० 8.12
2. हे० तं० 2.3.12
3. अ० व० सं० पृ० 36

संवर (दीक्षा) आदि से युक्त विशुद्ध पात्र में जलरूपी ज्ञान डालना तथा उस साधक की सन्तति पर ज्ञानरूपी जल के छिड़कने से आलयविज्ञान आदि का वासना की विशुद्धता की प्राप्ति का बीज अरोपित करना ही अभिषेक है। आचार्य के महान् हो जाने का अर्थ वज्राचार्य का अभिषेक प्राप्त कर लेना है। दूसरी ओर अभिसिंच्यते का अभिप्राय अधिकृत करना है अर्थात् चतुर्थ अभिषेक से उत्पत्तिक्रम आदि और चण्डाली, मण्डल, चक्र, महामुद्रा का अभ्यास करना, क्रिया, चर्या आदि तन्त्रों का निर्देशन करना और सामान्य सिद्धि आदि की प्राप्ति हेतु अधिकार प्राप्त करना है। उसी प्रकार जैसे—राजा राज्याभिषेक द्वारा राज्य प्राप्त करने में अधिकार प्राप्त कर लेता है।

युगनद्धप्रकाश[1] में भी कहा है कि अभिषेक प्राप्त करने से तन्त्र-मन्त्र, श्रवण, प्रवचन और मन्त्र सिद्धि के लिए अधिकृत हो जाता है।

हेवज्र[2] में उल्लिखित है कि चतुर्थ अभिषेक से काय, वाक्, चित्त तीनों की मल विशुद्धि कर उत्पत्तिक्रम आदि चार मार्ग भावना करने से साधक अधिकारी बनता है।

सर्वज्ञ बुस्तोन ने भी लिखा है[3]—मल का प्रक्षालन करना, अधिकार हेतु सामर्थ्यता प्राप्त करना, फल-प्राप्ति हेतु चर्या करने को प्रेरित करना और मुक्ति प्रदान करना ही अभिषेक है।

वर्गीकरण

प्रारम्भ में अपरिपक्व को परिपक्व करनेवाला हेतु-अभिषेक, मध्य परिपक्व को प्रयोग में लाना मार्ग-अभिषेक एवं अन्त में परम फल की प्राप्ति फल-अभिषेक है। इस प्रकार सामान्यतया अभिषेक को तीन भागों में विद्वानों ने विभक्त किया है।

(1) आचार्य द्वारा शिष्य को अभिसिंचित कर परिपक्व करना हेतु-अभिषेक है।

(2) हेतु-अभिषेक की प्राप्ति के उपरान्त स्वयं द्वारा विभिन्न समाधियों का अधिकार प्राप्त कर लेना अथवा मुख्य फल तक पहुँचाने वाले अर्थात् अभिषेकार्थ समाधि आदि की भावना करना मार्गाभिषेक है।

---

1. तो० 1818, पृ० 29
2. तो० 417, पृ० 7
3. ज्ञेयकोश, जि० 2, पृ० 658

(3) अनुत्तर अभिसम्बोधि अर्थात् परम-फल की प्राप्ति फलाभिषेक है। संकेत अभिषेक का उदाहरण महारश्मि अभिषेक से है।

अभिषेक के अभाव में तन्त्र की साधना करने पर दोष

अभिषेक की प्राप्ति के अभाव में तन्त्रों के अर्थों का सम्यक्ज्ञान के उपरान्त भी मार्ग में जितना भी प्रयत्न करें, सिद्धि विशेष की प्राप्ति असम्भव है। इसलिए परिश्रम फलरहित होता है। यद्यपि क्षुद्र सिद्धि की प्राप्ति हो भी जाय तो आचार्य एवं शिष्य दोनों नरक के भागी बनते हैं।

कालचक्र के मूलतन्त्र[1] में—अभिषेक प्राप्त किये बिना तन्त्र की देशना करना और गम्भीर तत्त्व की भावना करना, उसके अर्थों को टीका से ज्ञान करने पर भी नरक के भागी होंगे न कि मोक्ष की प्राप्ति—ऐसा कहा है। अभिषेक का प्रारम्भ भी तन्त्र में कही हुई सम्यक् विधि के अनुरूप होना चाहिये। अभिषेक के समय सूत्र (रेखा), वर्ण और लक्षण आदि भी तन्त्र में उल्लिखितानुसार होना चाहिए अन्यथा दोष होगा। ज्ञानतिलक[2] में कहा है—सकल अभिषेक विधि को सम्पूर्ण अभिषेकों के उपदेश सहित अविच्छिन्न गुरुपरम्परा से प्राप्त करना चाहिये।

कालचक्र के मूलतन्त्र[3] में स्पष्ट कहा है—अभिषेक विधियों द्वारा ही इष्टदेव की सिद्धि होती है, मन्त्र सिद्धि प्राप्त कराता है, वरदान भी मिलता है और अन्य जो चाहे प्राप्त कर सकता है अन्यथा किसी प्रकार का कर्मकाण्ड आदि का आश्रय लेने से भी किसी प्रकार के फल की प्राप्ति नहीं होती।

सुसिद्धि में कहा है[4]—पण्डित तन्त्र की विधि और तन्त्र को कृत्रिम (दूषित) नहीं करते अर्थात् अभिषेक प्राप्त करके ही तन्त्र की विधि विशुद्ध रूप से होती है अन्यथा लाभ की अपेक्षा हानि होगी।

अभिषेक के गुण

तन्त्र एवं तन्त्र की टीकाओं के श्रवण और क्रमद्वय की भावना करने का पात्र होना और त्रि-आवरण की विशुद्धि तथा सिद्धि-द्वय की प्राप्ति आदि सम्यक् अभिषेक की

---

1. ज्ञेयकोश, जि० 2, पृ० 659
2. तो० 422, पृ० 127
3. ज्ञेयकोश, जि० 2, पृ० 659
4. तो० 807, पृ० 172

प्राप्ति पर ही निर्भर है। जैसे वज्रावली[1] में कहा है—अभिषेक ही प्रमुख है। सभी सिद्धियाँ इसी का अनुसरण करती हैं। अतः मैं बुद्ध के अनुसार कहूँगा। उसे सर्वप्रथम सुने अर्थात् पहले वज्राचार्य द्वारा सुमतिमान् शिष्य को अभिषिक्त करें अन्यथा साधना सम्भव ही न हो सकेगी।

आचार्य कृष्णपाद ने भी कहा है[2]—इस तरह के अभिषेक प्राप्त करने से शिष्य गुणों के स्वामी बन जाते हैं। सकलबुद्ध उनको पूजते हैं। पञ्च आनन्तर्यकारी एवं पापी को भी मण्डल के दर्शन मात्र से मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है तथा प्रतिष्ठित मात्र से शुद्ध भूमि में जन्म लेते हैं।

'गुह्यसमाजप्रदीपोंद्योतन'[3] में भी उद्धृत है—सकल सिद्धियों की प्राप्ति तो मण्डल अभिषेक से होती है।

विभिन्न तन्त्रों की उत्कृष्टता के अनुसार अभिषेकों का वर्गीकरण भी होता है। कलश अभिषेक के विधि-विधान का उल्लेख क्रियातन्त्र आदि चारों तन्त्रों में अल्पाधिक उपलब्ध होता है लेकिन शेष गुह्यादि अभिषेक मात्र अनुत्तरतन्त्र की साधना एवं साधकों के लिए ही होता है, शेष योग आदि तीनों तन्त्रों के साधकों के लिए नहीं। संक्षेप में तन्त्रों में वर्णित कलश, गुह्य, प्रज्ञाज्ञान एवं चतुर्थ आदि अभिषेकों से साधक के काय, वाक् एवं चित्त को परिशोधित करना तथा इसके फलस्वरूप बुद्धत्व अर्थात् वज्रधर की प्राप्ति के लिए विशेष सामर्थ्य उत्पन्न करना और युगनद्ध वज्रधर की प्राप्ति करना है।

•

1. तो० 445, पृ० 212
2. ज्ञेयकोश, जि० 2, पृ० 66०
3. प्रदीपोद्योतन, पृ० 186

माध्यमिक शून्यतादर्शन और निर्गुण ब्रह्मवाद : एक तुलनात्मक विवेचन*

—डॉ० गौरांग चरण नायक—

[माध्यमिक शून्यता दर्शन को आक्षरिक अर्थ में शून्यता मानकर तथा निर्गुण ब्रह्मवाद को शून्यवादी ढांचे में ढालकर कुछ दार्शनिकों ने दोनों को एक मानने की चेष्टा की है, किन्तु लेखक का मानना है कि माध्यमिक शून्यता और निर्गुण ब्रह्मवाद दोनों अपने-अपने स्तर पर महान् हैं। उनकी विशेषताओं को समाप्त करके दोनों की एकरूपता मानना दोनों के प्रति घोर अन्याय है। हाँ यह माना जा सकता है कि उपनिषदों का प्रभाव दोनों पर परोक्ष या अपरोक्ष रूप से पड़ा है, किन्तु इससे दोनों के एकीकरण का प्रयास हमारी दार्शनिक परम्परा को लाभ नहीं हानि ही पहुँचाता है।]

माध्यमिक शून्यता दर्शन तथा निर्गुण ब्रह्मवाद दोनों अपने-अपने स्तर पर बहुत ही प्रभावशाली हैं, इसमें द्विमत हो नहीं सकता। परन्तु यह अत्यन्त ही क्षोभ की बात है कि आचार्य नागार्जुन के माध्यमिक दर्शन को आक्षरिक अर्थ में शून्यवाद मानकर हमारी दार्शनिक परम्परा में इसकी अनेक प्रकार से अयथार्थ समालोचना की गयी है और उसके साथ-साथ आचार्य शंकर के निर्गुण ब्रह्मवाद को शून्यवादी ढाँचे में ढालकर उसका भी छक्का छुड़ाया गया है। पहले यह विचारने की बात है कि वेदान्ती तथा अन्यान्य वेदवादी दार्शनिक शून्य का आक्षरिक अर्थ लगाकर माध्यमिक दर्शन को जैसे उपहास का पात्र बना दिये हैं, वह कितना यथार्थ है। ब्रह्मसूत्रभाष्य में आचार्य शंकर ने तो शून्यता दर्शन को खण्डन के योग्य भी नहीं समझा, ''शून्यवादिपक्षस्तु सर्वप्रमाणविप्रतिषिद्धं इति तन्निराकरणाय नादरः क्रियते[1]''। मध्वाचार्य ने शांकर वेदान्त को मायावाद कहकर निर्गुण ब्रह्म को शून्यवादियों की शून्यता के साथ एकीभूत कर दिया, ''यत् शून्यवादिनः शून्यं, तदेव ब्रह्म मायिनः''। पहले तो मैं शंकर के निर्गुण ब्रह्मवाद को मायावाद की आख्या देकर शंकर जैसे ब्रह्मवादियों को 'मायिनः' कहने का विरोध करूँगा। माया का स्थान अद्वैत वेदान्त में जरूर है, इसमें तो द्विमत नहीं हो सकता। परन्तु ब्रह्म ही यहाँ पर मुख्य प्रतिपाद्य विषय है, जो कि 'तत्तु समन्वयात्' (1/1/4) सूत्र से ही ज्ञात हो जाता है। माया का स्थान तो यहाँ पर गौण ही समझा जायेगा। जगत् की अनिर्वचनीयता ही यहाँ पर 'माया' शब्द से व्यक्त

---

* 'माध्यमिक दर्शन' के विषय में केन्द्रीय उच्च तिब्बती शिक्षा संस्थान, सारनाथ में 22 अप्रैल, 1998 को शास्त्र परिचय व्याख्यानमाला के अन्तर्गत दिये गए व्याख्यान का सारांश।

1. शंकर, ब्रह्मसूत्रभाष्य, 2.2.31

की जाती है और जब माया ब्रह्म की शक्ति के रूप में हमारे समक्ष आती है, वहाँ पर भी वह सगुण ब्रह्म की अनिर्वाच्या शक्ति के रूप में ही उभरती है। जैसे कि आचार्य ने स्वयं कहा है—"सन्नाप्यसन्नाप्युभयात्मिका नो, भिन्नाप्यभिन्नाप्युभयात्मिका नो, सांगाप्यनंगाप्यु-भयात्मिका नो, महाद्भुताऽनिर्वचनीयरूपा[1]"। अस्तु, माया तो सगुणब्रह्म की अनिर्वाच्या शक्ति है और इसलिए वेदान्त दर्शन में इसका स्थान ब्रह्म के समक्ष गौण ही समझा जाएगा। फिर निर्गुण ब्रह्म को आक्षरिक अर्थ में शून्यवादियों की शून्यता मानकर वेदान्त के निर्गुण ब्रह्मवाद तथा नागार्जुन के शून्यता दर्शन दोनों के प्रति एक साथ महान् अन्याय किया गया है, यह मेरा मानना है। आचार्य शंकर स्वयं ही तुरीय आत्मतत्त्व या ब्रह्म को शून्य से पृथक् करते हुए, अपने ही द्वारा उत्थापित प्रश्न—"शून्यमेव तर्हि तत्?" (क्या यह शून्य मात्र है?) के उत्तर में कहते हैं—"न, मिथ्यानिर्विकल्पस्य[2]"। परमार्थ तत्त्व शून्य हो नहीं सकता, क्योंकि मिथ्या विकल्प का भी निराश्रय तथा निरालम्ब होना सम्भव नहीं है और सब कुछ शून्य होने पर भी उसका साक्षी तो शून्य नहीं हो सकता। "कंचित् हि परमार्थमालम्ब्य अपरमार्थः प्रतिषिध्यते[3]"—असत् या अनृत का खण्डन करके परमार्थतत्त्व की स्थापना की जाती है और इसीलिए परमार्थतत्त्व जो कि सच्चिदानन्दस्वरूप है, वह शून्यमात्र नहीं हो सकता।

अब शून्यता दर्शन के बारे में भी यह विचार करना जरूरी हो जाता है कि क्या यह आक्षरिक अर्थ में शून्यवाद है? इस विषय पर स्वयं आचार्य नागार्जुन ही मूल-माध्यमिककारिका में प्रकाश डालते हुए कहते हैं—

शून्यमिति न वक्तव्यमशून्यमिति वा भवेत् ।
उभयं नोभयं चेति प्रज्ञप्त्यर्थं तु कथ्यते ।।

नागार्जुन का कहना है कि उनका माध्यमिक दर्शन जिस तत्त्व की ओर संकेत करता है, उसे न शून्य कहना चाहिए, न उसे अशून्य ही कहा जा सकता है, वह उभय या अनुभय भी नहीं है। केवल प्रज्ञप्ति मात्र के लिए ही यह कथन अभिप्रेत है। शून्यता दर्शन आक्षरिक अर्थ से शून्यवाद नहीं है। शून्यता निःस्वभावता का नामान्तर मात्र है। इसीलिए शून्यता दर्शन के साथ निर्गुण ब्रह्मवाद को एकीभूत करने का प्रयास दोनों ही दर्शनों के प्रति महान् अविचार ही है।

---

1. विवेकचूड़ामणि, 109
2. मांडूक्यकारिकाभाष्य, आगम प्रकरण ।
3. ब्रह्मसूत्रभाष्य, 3.3.22

अस्तु, अब देखना है—शून्यता दर्शन वास्तव में है क्या? क्या यह अद्वैत ब्रह्मवाद की तरह कोई पराजागतिक निरपेक्ष परमतत्त्व की ओर संकेत करता है जिसे श्रुति अस्थूल, अनणु, अह्रस्व, अदीर्घ या अदृष्ट, अव्यवहार्य, अग्राह्य, अलक्षण, अचिन्त्य, अव्यपदेश्य या 'नेति, नेति' आदि कहकर निषेधात्मक ढंग से ही निर्देश करती है? टी॰ आर॰ बी॰ मूर्त्ति, सी॰ डी॰ शर्मा आदि विद्वानों के अनुसार शून्यता एक ऐसा पराजागतिक परमतत्त्व है जिसके बारे में कुछ कहा नहीं जा सकता। मूर्त्ति के अनुसार शून्यता दर्शन 'नो रियालिटी डॉक्ट्रिन' अर्थात् सत्ता-शून्यता का सिद्धान्त नहीं है; यह तो 'नो-व्यु-एवाउट-रियालिटी' अर्थात् सत्ता की अगोचरता अव्यपदेश्यता का सिद्धान्त ही है[1]। उपनिषद् में जिस परम सत्ता के बारे में 'यतो वाचो निवर्त्तन्ते अप्राप्य मनसा सह' कहा गया है, शून्यता दर्शन में शून्य केवल वैसे ही एक परमसत्ता के प्रति संकेत करता है जो सब मानस-प्रत्ययों से परे है और जिसके बारे में कोई भी दार्शनिक सिद्धान्त लागू नहीं हो सकता। ''अस्ति, नास्ति, उभय, अनुभय, इति चतुष्कोटिविनिर्मुक्तं शून्यत्वम्''—परमसत्ता तो है, किन्तु उसके बारे में कुछ कहा नहीं जा सकता, क्योंकि वह बुद्धि के परे है। शून्यता दर्शन को ऐसा एक परम सत्तावादी सिद्धान्त मानने पर उसमें और निर्गुण ब्रह्मवाद में ज्यादा कुछ अन्तर रह नहीं जाता। इस अर्थ में शून्य और ब्रह्म में कोई अन्तर न होने के कारण शून्यवाद ब्रह्मवाद का ही नामान्तर मात्र बन जाता है। राधाकृष्णन्, शेरबॉत्सकी जैसे अद्वैतवादियों से ही ऐसी भावधारा आधुनिक काल में चलने लगी, परन्तु इसकी पुष्टि तो टी॰ आर॰ बी॰ मूर्त्ति तथा सी॰ डी॰ शर्मा जैसे विद्वानों के हाथ हुई। इसलिए यहाँ पर सी॰ डी॰ शर्मा के मत की थोड़ा सविस्तर आलोचना करना जरूरी समझता हूँ।

डॉ॰ शर्मा का कहना है—''शून्यवाद विशुद्ध विज्ञान को ही तत्त्व मानता है। नागार्जुन ने तत्त्व का लक्षण जो अपरोक्ष, निर्विकल्प, प्रपञ्चातीत आदि शब्दों से किया है, वह विशुद्ध विज्ञान के अतिरिक्त और किसका हो सकता है[2]?'' आगे चलकर वे कहते हैं—''हमारे मत से शून्यवाद और अद्वैत वेदान्त में केवल आग्रह का भेद है, मत का भेद नहीं।'' ''शून्यवाद दर्शन विकास की पूर्वभूमि है और वेदान्त उत्तरभूमि''। बौद्ध तथा वेदान्त ये दोनों दर्शन भगवती श्रुति से ही प्रेरणा पाते हैं। अतः उनमें वास्तव में भेद ही नहीं है, इस मत की पुष्टि करते हुए डॉ॰ शर्मा कहते हैं—''प्रत्येक बौद्ध प्रकट वेदान्ती है और प्रत्येक वेदान्ती प्रकट बौद्ध है। बौद्ध और वेदान्त दर्शनों की जननी श्रुति है, दोनों ने

1. डॉ॰ टी॰ आर॰ बी॰ मूर्ति—द सेण्ट्रल फिलोसॉफी ऑफ बुद्धिज्म, लन्दन, 1955
2. डॉ॰ चन्द्रधर शर्मा, बौद्धदर्शन और वेदान्त—विजन-विभूति प्रकाशन, इलाहाबाद, संस्करण : 1981, उपसंहार ।

इसी माता का स्तन्यपान किया है, दोनों एक ही केन्द्रीय विचार की छत्रछाया में पलकर बड़े हुये हैं, दोनों एक ही मत के पोषक रहे हैं, दोनों एक ही दर्शन के विकास के विभिन्न रूप हैं[1]।" मेरा तो इस बारे में यह वक्तव्य है कि बौद्ध तथा वेदान्त दोनों ही अपने-अपने स्तर पर महान् हैं और उनकी विशेषताओं को नष्ट करके उन्हें एकाकार करने का यह प्रयास दोनों के प्रति घोर अविचार है। हाँ, यह अवश्य मानना होगा कि उपनिषदों का प्रभाव इन दोनों दर्शनों के ऊपर किसी न किसी प्रकार से होना, चाहे वह प्रत्यक्ष रूप से हो या परोक्षरूप से, स्वाभाविक ही है। परन्तु इससे यह सिद्ध नहीं होता कि इनमें वास्तव में कोई भेद ही नहीं है। ऐसी एकीकरण की प्रक्रिया से हमारी महान् दार्शनिक परम्पराओं को कोई लाभ नहीं पहुँचने वाला है, बल्कि हानि ही होगी, क्योंकि इससे हमारे विभिन्न दर्शनों की अपूर्व विशेषताओं को देख पाना हमारे लिए असम्भव हो जायगा। शून्यता दर्शन के सम्बन्ध में मेरा यह कहना है कि अगर शून्यता को आक्षरिक अर्थ में शून्य समझना गलत है, तो उसे एकमेवाद्वितीय परब्रह्म या आत्मतत्त्व के समान कोई पराजागतिक परमसत्ता या परमतत्त्व समझना भी उससे कम भ्रमात्मक नहीं है। यहाँ तत्त्व के सम्बन्ध में चन्द्रकीर्ति अपने भाष्य में स्पष्ट कहते हैं, "तदेवमनानार्थता तत्त्वस्य लक्षणं वेदितव्यं, शून्यतैकरसत्वात्"[2], वहाँ चन्द्रधर शर्मा जैसे वेदान्ती दार्शनिकों ने कहाँ से और कैसे विशुद्ध विज्ञान को तत्त्व के रूप में लाकर खड़ा कर दिया, यह मेरी समझ के बाहर है। ऐसे दुराग्रह की समालोचना करते हुए चन्द्रकीर्ति ने प्रसन्नपदा में जैसे अत्यन्त ही रोचक ढंग से शून्यता की व्याख्या की है, वह प्रणिधान योग्य है—"यो 'न किंचिदपि ते पण्यं दास्यामी'त्युक्तः, स चेद् 'देहि भोस्तदेव मह्यं' न किंचिन्नाम पण्यमिति ब्रूयात्, स केनोपायेन शक्यः पण्याभावं ग्राहयितुम्[3]"। प्रज्ञाकरमति का कहना है कि सब धर्मों की निःस्वभावता जो कि अकृत्रिम वस्तु रूप है, वही परमार्थ है—"परमः उत्तमोऽर्थः परमार्थः, अकृत्रिम-वस्तुरूपम्, सर्वधर्माणां निःस्वभावता"[4]। धर्मों की निःस्वभावता के अतिरिक्त और कोई पराजागतिक परमसत्ता माध्यमिक या शून्यतादर्शन को मान्य नहीं है।

नागार्जुन के माध्यमिक दर्शन में प्रतीत्यसमुत्पाद ही शून्यता है और यह शून्यता ही मध्यमा प्रतिपद् है।

---

1. डॉ॰ चन्द्रधर शर्मा, बौद्धदर्शन और वेदान्त, विजन-विभूति प्रकाशन, इलाहाबाद, संस्करण : 1981, उपसंहार ।.
2. प्रसन्नपदा, 18.9
3. वहीं 13.8
4. बोधिचर्यावतारपञ्जिका, 9.2

यः प्रतीत्यसमुत्पादः शून्यतां तां प्रचक्ष्महे ।
सा प्रज्ञप्तिरुपादाय प्रतिपत् सैव मध्यमा[1] ।।

नागार्जुन की यह कारिका सुप्रसिद्ध है। सब कुछ प्रतीत्यसमुत्पन्न या परस्परापेक्ष होने से उनका अपना कोई स्वभाव नहीं रह जाता और निःस्वभावता ही वस्तुतत्त्व या वस्तुस्थिति होने से अस्ति, नास्ति आदि कोटियों की कल्पना का अवकाश नहीं रह जाता, जब कोई इन विभिन्न कल्पनाओं से मुक्त हो जाता है, तभी निर्वाण की प्राप्ति होती है। "निरवशेषकल्पनाक्षयरूपमेव निर्वाणम्"[2]—प्रसन्नपदा में निरवशेष कल्पनाक्षय को ही निर्वाण कहा गया है। इस अवस्था में परतत्त्व सम्बन्धी विभिन्न अस्तित्व, नास्तित्व आदि अवधारणाओं से मुक्त होकर प्रज्ञावान् व्यक्ति मध्यम मार्ग का ही अनुसरण करता है। "परमार्थो ह्यार्याणां तूष्णींभावः"—चन्द्रकीर्ति प्रसन्नपदा में जो 'तूष्णींभाव' को परमार्थ बतलाते हैं, यह कोई अज्ञता या परतत्त्व की अगोचरता के कारण या अज्ञेयवादी अथवा रहस्यवादी तूष्णींभाव नहीं है, यह तो धर्मों की निःस्वभावता का ज्ञान होने पर दृष्टियों के निःसरण के कारण वादों के बीच तटस्थता का ही तूष्णींभाव है। प्रसन्नपदा में आचार्य चन्द्रकीर्ति तथागत के सम्बन्ध में कहते हैं—"तत्र तथागतो न कल्पयति न विकल्पयति, सर्वकल्पविकल्पजालवासनाप्रपञ्चविगतो हि शान्तमते तथागतः", तथागत सब कल्पना विकल्पजाल तथा वासना प्रपञ्च से मुक्त हैं। निःस्वभावता का ज्ञान होने पर कल्पनाओं से मुक्ति मिलती है और यही निर्वाण है। निर्वाणप्राप्ति के लिये संसारत्यागी संन्यासी बनकर किसी पराजागतिक तत्त्व के पीछे नहीं दौड़ना पड़ता है और न कोई अपरिवर्तनीय, चिरन्तन तथा शाश्वत परमसत्ता जिसके बारे में कठोपनिषद् "अशरीरं शरीरेषु अनवस्थेष्ववस्थितम्" आदि शब्दों में कहते हैं उसी का ब्रह्मात्मैक्य अवबोध के द्वारा यथार्थ ज्ञान की प्राप्ति यहाँ पर लक्ष्य के रूप में बतायी गयी है। स्थायी तथा अपरिवर्तनीय स्वभाव को न मानने से ही संसार और निःस्वभावता जो कि प्रतीत्यसमुत्पाद तथा शून्यता का ही नामान्तर है, उसी का ज्ञान होने से यहीं पर निर्वाणप्राप्ति हो जाती है। प्रज्ञादृष्टि का ही भेद है। इसीलिए नागार्जुन ने मूलमाध्यमिककारिका में स्पष्ट ही कह दिया है—

न संसारस्य निर्वाणात् किञ्चिदस्ति विशेषणम् ।
न निर्वाणस्य संसारात् किञ्चदस्ति विशेषणम् ।।
निर्वाणस्य च या कोटिः कोटिः संसरणस्य च ।
न तयोरन्तरं किञ्चित् सुसूक्ष्ममपि विद्यते ।।

---

1. मूलमाध्यमिककारिका, 24.18
2. प्रसन्नपदा, 25.3

सब धर्मों की निःस्वभावता का ज्ञान ही यहाँ पर चतुष्कोटि तर्क का लक्ष्य है।

माध्यमिक दर्शन जो कि शून्यता-दर्शन का नामान्तर ही है, लोकसंवृतिसत्य और परमार्थसत्य, व्यवहार और परमार्थ में भेद तो करता है।

द्वे सत्ये समुपाश्रित्य बुद्धानां धर्मदेशना ।
लोकसंवृतिसत्यं च सत्यं च परमार्थतः ।।

येऽनयोर्न विजानन्ति विभागं सत्ययोर्द्वयोः ।
ते तत्त्वं न विजानन्ति गम्भीरं बुद्धशासने ।।

व्यवहारमनाश्रित्य परमार्थो न देश्यते ।
परमार्थमनागम्य निर्वाणं नाधिगम्यते ।।

आदि कारिकाओं से स्पष्ट है कि व्यवहार और परमार्थ का विभाग यहाँ पर भी अत्यन्त गुरुत्वपूर्ण माना जाता है। व्यवहार को आश्रय करके ही परमार्थ की देशना हो सकती है और परमार्थ-ज्ञान के बिना निर्वाण प्राप्ति भी नहीं हो सकती। इसलिए व्यवहार और परमार्थ दोनों ही अपने-अपने स्तर पर महत्त्वपूर्ण हैं। किन्तु यहाँ पर परमार्थ-ज्ञान का अर्थ कोई परमसत्ता या परमात्मतत्त्व का ज्ञान नहीं है और इसीलिए ब्रह्मवाद तथा शून्यता-दर्शन में अनेक सादृश्य रहते हुए भी उनमें भेद अत्यन्त ही गहरा है, यह याद रखना होगा। निःस्वभावता के अतिरिक्त यहाँ पर अन्य कोई परमात्मतत्त्व है ही नहीं। शून्यता-दर्शन प्रज्ञापारमिता का दर्शन है। "प्रज्ञा यथाभूतमर्थं प्रजानाति"—प्रज्ञा से यथार्थ ज्ञान होता है और यहाँ यथार्थ या यथाभूत ज्ञान ब्रह्म या आत्मतत्त्व का ज्ञान नहीं, निःस्वभावता का ही ज्ञान है, यह समझ लेना जरूरी है। "तथागतो निःस्वभावो निःस्वभावमिदं जगत्"[1]—सिर्फ जगत् ही नहीं, तथागत भी यहाँ पर निःस्वभाव है।

ब्रह्मवाद में ब्रह्मस्वरूप या ब्रह्मात्मैक्यभाव का ज्ञान होने पर जीवन्मुक्ति होती है। शून्यता-दर्शन में निःस्वभावता ही एकमात्र परमार्थ होने के कारण उसी के ज्ञान से ही सर्वकल्पनाशून्य निर्वाण की प्राप्ति होती है। ब्रह्म सच्चिदानन्द स्वरूप है, शून्यता दर्शन में कोई स्थायी स्वरूप या स्वभाव है ही नहीं। अगर 'स्वभाव' शब्द का प्रयोग करके भेद या अन्तर समझना जरूरी होगा, तो यह कहना पड़ेगा कि जहाँ वेदान्त दर्शन में मेरा स्वभाव सच्चिदानन्दरूप है, वहाँ माध्यमिक शून्यता-दर्शन में निःस्वभावता ही मेरा स्वभाव है।

---

1. मूलमाध्यमिककारिका, 22.16

प्रज्ञाकरमति कहते हैं—"निःस्वभावतैव सर्वभावानां निजं पारमार्थिकं रूपमवतिष्ठते। तदेव प्रधानपुरुषार्थतया परमार्थः उत्कृष्टं प्रयोजनमभिधीयते। अत्रापि नाभिनिवेष्टव्यम्। अन्यथा भावाभिनिवेशो वा शून्यताभिनिवेशो वा इति न कश्चिद् विशेषः, उभयोरपि कल्पनात्मकतया सांवृतत्वात्"[1]। यह समझ लेना बहुत ही जरूरी है कि अस्ति, नास्ति आदि किसी भी कोटि में जब तक कल्पना विचरण करती रहती है, तब तक माध्यमिक शून्यता-दर्शन के अनुसार प्रपञ्च का उपशम नहीं हो सकता। "अस्तीति नास्तीति उभेऽपि अन्ता, शुद्धीअशुद्धीति इमेऽपि अन्ता। तस्मादुभे अन्त विवर्जयित्वा, मध्येऽपि स्थानं न करोति पण्डितः"[2]। इसीलिये शून्यता को सही ढंग से समझने के सम्बन्ध में बहुत ही सावधानी बरतने का उपदेश दिया गया है। नागार्जुन का कहना है—

विनाशयति दुर्दृष्टा शून्यता मन्दमेधसम् ।
सर्पो यथा दुर्गृहीतो विद्या वा दुष्प्रसाधिता[3] ।।

शून्यता को सही ढंग से समझने के लिये नागार्जुन की जो कारिका विशेष ध्यान देने योग्य है, वह इस प्रकार है—

शून्यता सर्वदृष्टीनां प्रोक्ता निःसरणं जिनैः ।
येषां तु शून्यता दृष्टिस्तानसाध्यान् बभाषिरे[4] ।।

शून्यता प्रज्ञा है, जिसमें सब दृष्टियों का सब वादों का निःसरण, अप्रवृत्ति या निवृत्ति अन्तर्निहित है। इस शून्यता को अगर किसी दृष्टि, वाद या सिद्धान्त के रूप में देखा जाय या बाँध दिया जाय, तो वह फिर प्रज्ञा ही नहीं रह जाती। वह तो फिर एक दृष्टि या वादविशेष बनकर अविद्या या अज्ञान का ही कारण बन जाता है। चन्द्रकीर्ति इसी कारिका का भाष्य करते हुए आर्यरत्नकूटसूत्र से बुद्धवचन का जो उल्लेख करते हैं, वह शून्यता को सही ढंग से समझने के लिये बहुत ही उपयोगी सिद्ध होगा, इसलिए उसे मैं कुछ विस्तार से ही यहाँ रखना ठीक समझता हूँ। बुद्ध भगवान् स्वयं आर्यरत्नकूटसूत्र में काश्यप से कहते हैं—"सर्वदृष्टिकृतानां हि, काश्यप, शून्यता निःसरणम्। यस्य खलु पुनः शून्यतैव दृष्टिः, तमहमचिकित्स्यमिति वदामि। तद्यथा, काश्यप, ग्लानः पुरुषः स्यात्। तस्मै वैद्यो भैषज्यं दद्यात्, तस्य तद् भैषज्यं सर्वदोषानुच्चार्य स्वयं कोष्ठगतं न निःसरेत्, तत्किं मन्यसे, काश्यप,

1. बोधिचर्यावतारपञ्जिका, 9.2
2. समाधिराजसूत्र, 9.27
3. मूलमध्यमककारिका, 24.11
4. वहीं, 13.8, "शून्यतायामपि नाभिनिवेशः कर्तव्यः" बोधिचर्यावतारपञ्जिका, 9.34 द्रष्टव्य ।

अपितु स पुरुषस्ततो ग्लान्यान् मुक्तो भवेत्? 'नो हीदं, भगवन्! गाढतरं तस्य पुरुषस्य ग्लान्यं भवेत्, यस्य तद् भैषज्यं सर्वदोषानुच्चार्य कोष्ठगतं न निःसरेत्।' भगवानाह—'एवमेव, काश्यप, सर्वदृष्टिकृतानां शून्यतानिःसरणम्। यस्य खलु पुनः शून्यतैव दृष्टिः, तमहम-चिकित्स्यमिति वदामि' इति।''

शून्यता सब वादों से, सब दृष्टियों से परे है। शून्यता को अस्ति, नास्ति, उभय, अनुभय आदि दृष्टियों के अन्तर्भुक्त करने से शून्यता-दर्शन का लक्ष्य सब दृष्टियों से, सब कल्पनाओं से मुक्ति—यह लक्ष्य ही व्याहत हो जाता है। शून्यता-दर्शन न अस्तित्ववादी है, न नास्तित्ववादी है। ''अस्तीति नास्तीति कल्पनावतामेवं चरन्तां न दुःखं शाम्यति''—इस बुद्धवचन पर भाष्य करते हुए चन्द्रकीर्ति ने सभी अस्तित्ववादी तथा नास्तित्ववादियों के सिद्धान्तों का खण्डन किया है। शून्यता-दर्शन आक्षरिक अर्थ से शून्यवाद तो नहीं है, क्योंकि माध्यमिकदर्शन होने के नाते यह सब वादों में तटस्थता का ही प्रख्यापन करता है। ब्रह्मवाद न तो शून्यवादी है, न ही माध्यमिकदर्शन के रूप में तटस्थता इसे स्वीकार है। यह तो आत्मदर्शन, परमात्मदर्शन, ब्रह्मात्मैक्यदर्शन है। इसीलिये शांकर वेदान्त निर्गुण ब्रह्म को परमतत्त्व के रूप में स्वीकृति देने के साथ-साथ चित्तशुद्धि तथा आत्मदर्शन में सहायक के रूप में ईश्वर-भक्ति को भी स्थान देता है। ब्रह्मसूत्रभाष्य में आचार्य शंकर का कहना है कि अविद्यावस्था में ही ब्रह्म का उपास्य-उपासकादिलक्षण सब व्यवहार सम्भव होता है। यह तो आचार्य शंकर का परमार्थतत्त्व है फिर भी आचार्य ने वहीं पर यह भी कहा है कि ''एक एव तु परमात्मा ईश्वरः तैः तैः गुणविशेषैः विशिष्ट उपास्यो यद्यपि भवति, तथापि तथागुणोपासनेनैव फलानि भिद्यन्ते। 'तं यथायथोपासते तदेव भवति' इति श्रुतेः .....स्मृतेश्च यं यं वापि स्मरन् भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्। तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः'' (गीता)। यद्यप्येक आत्मा सर्वभूतेषु स्थावरजंगमेषु गूढः, तथापि चित्तोपाधिविशेषतारतम्या-दात्मनः कूटस्थनित्यस्यैकरूपस्याप्युत्तरोत्तरमाविष्कृतस्य तारतम्यमैश्वर्यशक्तिविशेषैः श्रूयते—''तस्य य आत्मानमाविस्तरां वेद'' (ऐ० आ०) इत्यत्र। स्मृतौ अपि—''यद् यद् विभूतिमत् सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा इत्यादि'' (गीता) इति ''यत्र यत्र विभूत्याद्यतिशयः स स ईश्वर इत्युपास्यतया, चोद्यते।'' ''एवमेकमपि ब्रह्म अपेक्षितोपाधिसम्बन्धं निरस्तोपधिसम्बन्धं चोपास्यत्वेन ज्ञेयत्वेन च वेदान्तेषूपदिश्यते''[1]। आचार्य शंकर के ब्रह्मवाद या आत्मदर्शन में ही भगवदुपासना या भक्ति का स्थान हो सकता है, चाहे वह पारमार्थिक सत् न भी हो। व्यवहार के स्तर पर भी वेद, स्मृति आदि श्रुति-स्मृतियों का स्थान माध्यमिकदर्शन में या बौद्धदर्शन के किसी भी स्तर पर सम्भव नहीं है।

1. ब्रह्मसूत्रभाष्य, आनन्दमयाधिकरणम्।

इसी तरह वेदान्तदर्शन में जीवन्मुक्ति का जो आदर्श है उसमें निर्गुण परब्रह्म का तत्त्वज्ञान या ब्रह्मात्मैक्यानुभव अनिवार्य है। बौद्ध महायान दर्शन जिसमें आचार्य नागार्जुन के माध्यमिक शून्यवाद एक मुख्य धारा है—इसमें बोधिसत्त्व का जो आदर्श उपस्थापित किया गया है, वह यथाभूतदर्शी है और यह यथाभूतदर्शन किसी निर्गुण ब्रह्मदर्शन या ब्रह्मात्मैक्यानुभव नहीं है, यह प्रणिधान योग्य है। यथाभूतदर्शी धर्मों की निःस्वभावता का ही दर्शन करता है। यहाँ पर धर्मों के स्वभाव या प्रकृति को निःस्वभावता या शून्यता बताया गया है। चन्द्रकीर्ति के निम्नोक्त भाष्य से ही यह स्पष्ट हो जाता है—"या सा धर्माणां धर्मता नाम सैव तत् स्वरूपं। अथ केयं धर्माणां धर्मता? धर्माणां स्वभावः, प्रकृतिः। का चेयं प्रकृतिः। येयं शून्यता। केयं शून्यता? नैःस्वाभाव्यं। किमिदं नैःस्वाभाव्यं? तथता। केयं तथता? तथाभावोऽविकारित्वं सदैव स्थायिता, सर्वदानुत्पाद एवं परनिरपेक्षत्वात् अकृत्रिमत्वात् स्वभाव इत्युच्यते।"[1] यथाभूतदर्शी बोधिसत्त्व में इस वस्तुस्वरूप-निःस्वभावता का ज्ञान होने से प्राणीमात्र के प्रति महाकरुणा होती है। "समाहितचेतसो यथाभूतदर्शनं भवति। यथाभूतदर्शिनो बोधिसत्त्वस्य सत्त्वेषु महाकरुणा प्रवर्त्तते"[2]—प्रज्ञाकरमति। शान्तिदेव बोधिचर्यावतार में कहते हैं—"शून्यता दुःखशमनी"। यहाँ पर दुःख का विनाश ब्रह्मात्मैक्यानुभवजन्य नहीं है, शून्यता या निःस्वभावताज्ञानजन्य है—शून्यता-दर्शन तथा ब्रह्मवाद को एकाकार करने के प्रबल दुराग्रह के कारण हमें इस भेद को बार-बार दुहराने की जरूरत होती है। "करुणापरतन्त्रतया परदुःखदुःखिनः सर्वदुःखापहरणाय यत्नः[3]" प्रज्ञाकरमति के अनुसार बोधिसत्त्व जिसे निःस्वभावता का ज्ञान हो गया हो, वह करुणा-परवश होकर दूसरों के दुःख से दुःखी होने के कारण ही सबके दुःख अपहरण करने में लग जाता है। यहाँ पर 'यत्न' शब्द के प्रयोग से यह सूचित होता है कि दूसरों का दुखापहरण अनायास नहीं होता है, इसके लिए करुणा-परवश होकर बोधिसत्त्व को चेष्टा करनी पड़ती है। आचार्य शंकर के द्वारा दी गई वसन्तऋतु की उपमा से (वसन्तवल्लोकहितं चरन्तः[4]) तथा सुरेश्वराचार्य के 'अयत्नतो' शब्दप्रयोग से वेदान्त के जीवन्मुक्त के द्वारा परार्थसाधन आदि सत्कर्म अनायास ही होता है, ऐसा सूचित होता है। "उत्पन्नात्मप्रबोधस्य त्वद्वेष्टृत्वादयो गुणाः। अयत्नतो भवन्त्यस्य न तु साधनरूपिणः।।"[5]

---

1. प्रसन्नपदा, 15.2
2. बोधिचर्यावतारपञ्जिका, 9.1
3. वहीं, 8.103
4. विवेकचूड़ामपि, 37, "शान्ता महान्तो निवसन्ति सन्तः वसन्तवल्लोकहितं चरन्तः"।
5. नैष्कर्म्यसिद्धि, 4.6.9

बोधिसत्त्व में और एक विशेषता लक्ष्य करने की बात है, उसे अपने निर्वाण के लिए लालसा भी नहीं होती, क्योंकि करुणा-परवश होकर दूसरों के दु:ख मिटाने के लिये यत्नशील होना ही उसका लक्ष्य है। परार्थसाधिका प्रवृत्ति बोधिसत्त्व में कूट-कूट कर भरी हुई है। जीवन्मुक्त में भी परार्थसाधिका प्रवृत्ति स्वाभाविक रूप से रहती है और वह अनायास ही दूसरों की भलाई करता रहता है। फिर भी भेद यह है कि बोधिसत्त्व दूसरों के दु:खमोचन के आगे अपने मोक्ष को तुच्छ समझता है। उसके विचार में प्राणियों के दु:ख मिट जाने से उसे इतना पर्याप्त सुख मिलेगा जो सिर्फ अपने मोक्ष से नहीं मिल सकता। शान्तिदेव बोधिचर्यावतार में कहते हैं—

मुच्यमानेषु सत्त्वेषु ये ते प्रामोद्यसागराः ।
तैरेव ननु पर्याप्तं मोक्षेणारसिकेन किम्[1] ।।

इसीलिये जीवन्मुक्त तथा बोधिसत्त्व में सादृश्य रहते हुए भी सूक्ष्मातिसूक्ष्म भेद अवश्य है। बोधिसत्त्व सुपुष्पचन्द्र द्वारा बहुतों के दु:ख मिटाने के लिए राजा से विपदा की सम्भावना जानते हुए भी अपने दु:खों की उपेक्षा करके प्राणोत्सर्ग करने की बात बोधिचर्यावतार में देखने को आती है।

अतः सुपुष्पचन्द्रेण जानतापि नृपापदम् ।
आत्मदु:खं न निहतं बहूनां दु:खिनां व्ययात्[2] ।।

पञ्जिकाव्याख्या में तो बोधिसत्त्व सुपुष्पचन्द्र का घातक के द्वारा अत्यन्त ही निष्ठुर तरीके से बध किये जाने का वर्णन मिलता है—''तेन तदाज्ञामनुवर्तमानेन कर-चरणादिच्छेदक्रमेण अक्षीणि च संदंशिकेन उद्धृत्य जीविताद् व्यपरोपित:''। ''परार्थैकान्त-तृष्णया''[3] अर्थात् दूसरों के मंगल के लिये अपनी मुक्ति को तुच्छ कर देना बोधिसत्त्व आदर्श की विशेषता है। फिर भी दूसरों के हित साधन करते हुए बोधिसत्त्व में न कोई घमण्ड होता है, न ही विस्मय होता है—बोधिसत्त्व की यह परार्थसाधिका प्रवृत्ति अत्यन्त ही स्वाभाविक होने के कारण—''अत: परार्थं कृत्वापि न मदो न च विस्मय:''[4] बोधिसत्त्व की यह परार्थसाधिका प्रवृत्ति जो अपने मोक्ष को भी तुच्छ समझे—यह बौद्ध धर्मदर्शन की एक विशेषता है—ऐसा मेरा मानना है। वास्तव में यह बुद्ध भगवान् की महाकरुणा में ही

1. बोधिचर्यावतार, 8.108
2. वहीं, 8.106
3. वहीं, 8.109
4. वहीं, 8.109

अन्तर्निहित है, जिसके कारण आचार्य नागार्जुन अपनी मूलमाध्यमिक-कारिका की समाप्ति पर गौतम को नमस्कार करते हुए 'सर्वदृष्टिप्रहाण तथा अनुकम्पा या महाकरुणा के कारण ही उन्होंने सद्धर्म का उपदेश दिया था।' इसी का विशेष भाव से उल्लेख करते हैं।"

सर्वदृष्टिप्रहाणाय यः सद्धर्ममदेशयत् ।
अनुकम्पामुपादाय तं नमस्यामि गौतमम् ।।[1]

आचार्य चन्द्रकीर्ति अपनी प्रसन्नपदा में 'अनुकम्पा' की व्याख्या करते हुए कहते हैं—"अनुकम्पामुपादाय महाकरुणामेवाश्रित्य प्रियैकपुत्राधिकतरप्रेमपात्र-सकलत्रिभुवन-जनः, न लाभसत्कारप्रत्युपकारादिलिप्सया"। बोधिसत्त्व का आदर्श तो इसी में अन्तर्निहित है, यह स्पष्ट हो जाता है।

अन्त में दर्शन, विशेष करके इस प्रकार के दर्शन की उपयोगिता के विषय में मेरा कुछ वक्तव्य है। चाहे वेदान्त का ब्रह्मात्मैक्यदर्शन हो या बौद्ध माध्यमिकों का निःस्वभावता-दर्शन हो, उसका कुछ सुप्रभाव समाज में तभी महसूस होता है, जब सामाजिक स्तर पर कुछ हद तक तत्त्वज्ञान के आधार पर लोक-चरित्र प्रतिष्ठित हो। लोकाचार का सम्पूर्ण विलोप किसी भी आदर्श स्थानीय दर्शन का लक्ष्य नहीं हो सकता और ऐसा लक्ष्य कहीं पर भूल से भी दिखाई दे, तो वह निरर्थक ही सिद्ध होगा। तत्त्वज्ञान के आधार पर लोक-चरित्र को कुछ हद तक आधारित करना तथा उसका संशोधन करना ही आदर्श स्थानीय दर्शन का लक्ष्य होता है और यह सम्पूर्ण असाध्य भी नहीं है। अग्नि का उष्ण होना आचार्य शंकर तथा आचार्य चन्द्रकीर्ति किसे मान्य नहीं है? किन्तु जहाँ शंकर के लिए यह त्रिकालाबाधित न होने से परमार्थ तत्त्वज्ञान नहीं है, वहाँ चन्द्रकीर्ति के लिए भी ऐसा ज्ञान स्वभाव का ज्ञान न होने के कारण इसे स्वभाव मानना परमार्थ नहीं है। चन्द्रकीर्ति प्रसन्नपदा में स्पष्ट कहते हैं—"ननु च गोपालांगनाजनप्रसिद्धमेतद्-अग्नेरौष्ण्यं स्वभावमिति किं खलु अस्माभिरुक्तम् न प्रसिद्धमिति? एतत्तु वयं ब्रूमः—नायं स्वभावो भावितुमर्हति, स्वभावलक्षणवियुक्तत्वात्"[2]। स्वभाव का लक्षण है कि वह आगन्तुक नहीं है और अविचलितरूप है, जैसे कि प्रज्ञाकरमति कहते हैं—"स्वभावस्य च सर्वदा अनागन्तुकतया अविचलितरूपत्वात्"[3]। आचार्य शंकर तो यह स्पष्ट कहते हैं कि अग्नि का उष्ण होना लोक में सम्यक्ज्ञान के रूप में मान्य है—"एकरूपेण ह्यवस्थितो योऽर्थः स

---

1. मूलमाध्यमिककारिका, 27.30
2. प्रसन्नपदा, 15.2
3. बोधिचर्यावतारपञ्जिका, 9.2

परमार्थः। लोके तद्विषयं ज्ञानं सम्यग्ज्ञानमित्युच्यते-यथाग्निरुष्ण इति।"[1] केवल त्रिकाला-वाधित न होने के कारण ही उसे परमार्थ तत्त्वज्ञान मानना उनके लिए सम्भव नहीं है। एक तरफ जहाँ आत्मतत्त्व 'अपेत ब्रह्मक्षत्रादिभेद' होने से जीवन्मुक्त का बीज उसके ज्ञान में अन्तर्निहित है, वहाँ दूसरी ओर स्वभाववाद के बन्धन से ऊपर उठकर बोधिसत्त्व महाकरुणा से प्रेरित होकर कर्म करना भी बौद्ध शून्यता-दर्शन में निहित ही है। तत्त्वज्ञान के आधार पर लोकचरित्र को कुछ हद तक बदलना या उसका पूर्णरूप से बदलना इतना आसान तो नहीं है, किन्तु यह असम्भव भी नहीं है। आसान इसलिए नहीं है, क्योंकि आचार्य शंकर ने जैसे अध्यास भाष्य में कहा है, ब्रह्मक्षत्रादिभेद से ही लोकव्यवहार चलता है, जिसे वे अध्यास नाम देते हैं और इसलिए इसे अज्ञान से ही अपरिवर्तनीय तत्त्व मान लेना स्वाभाविक हो जाता है, दूसरी तरफ स्वभावदृष्टि को लेकर ही लोक-व्यवहार चलता रहता है, जो कि हमारे संस्कारों में बद्धमूल है, शान्तिदेव की भाषा में हमारे जैसों के बारे में कहना उचित होगा—

सर्वमाकाशसंकाशं परिगृह्णन्तु मद्विधाः ।
प्रकुप्यन्ति प्रहृष्यन्ति कलहोत्सवहेतुभिः[2] ।।

लोक-चरित्र तो कुछ हद तक बदला जा सकता है, किन्तु जीवन्मुक्त या बोधिसत्त्व के किसी विशेष समाज में अपनी सामाजिक स्थिति तथा प्रभाव के ऊपर ही यह निर्भरशील है। लोकाचार का सम्पूर्ण प्रत्याख्यान न दर्शन का लक्ष्य है, न हो सकता है। इसीलिए ज्ञानी के बारे में पञ्चदशीकार ने 'द्विभाषाभिज्ञ' शब्द का प्रयोग किया है—"द्विभाषाभिज्ञवद् विद्यादुभौ लौकिकवैदिकौ"[3]। फिर भी स्वाभाविक ढंग से लोकहित में प्रवृत्त उस ज्ञानी का समाज के उपयोगी होना न होना अनेक अंशों में उसी समाज व्यवस्था की विशेष आवश्यकता के ऊपर ही निर्भर करेगा। प्रज्ञा के साथ-साथ करुणा से प्रेरित बोधिसत्त्व किसी भी अवस्था में उदासीन रह नहीं सकता, यही विशेषता ध्यान देने योग्य है—"प्रज्ञया न भवे स्थानं, कृपया न शमे स्थितिः"।

•

1. ब्रह्मसूत्रभाष्य, 2.1.11
2. बोधिचर्यावतार, 9.155
3. विद्यारण्य स्वामी, पञ्चदशी, 11.130

महाराग की अवधारणा

—बनारसीलाल—

[बौद्ध तत्त्व चिन्तन का जैसे-जैसे विकास हुआ उसका प्रकर्ष होता गया। इस प्रकर्षावस्था का दर्शन बौद्धतन्त्र साधना एवं दर्शन में मिलता है। सम्पूर्ण महायानी बौद्ध चिन्तन का आधार प्रज्ञा और करुणा है। जहाँ करुणा अभ्युदय का साधन है वहीं प्रज्ञा तत्त्वज्ञान द्वारा नैःश्रेयस् प्राप्ति का साधन है। इन दोनों की अद्वयता वज्रयानी चिन्तन की पराकाष्ठा है। महाकरुणा द्वारा संसार के प्राणियों के दुःखों को देखकर उन्हें वज्रधर के पद तक पहुँचाने की अदम्य इच्छा ही राग है। यह सामान्य राग से विशिष्ट है, अतः महाराग कहलाता है। महाराग के कारण ही लोक में सत्त्वार्थ राग चर्या करते हुए भी राग से वह निर्लिप्त रहता है। तन्त्रों में वर्णित इसी महाराग की यहाँ विवेचना की गई है।]

भारतीय दार्शनिक चिन्तन का विकास समाज सापेक्ष हुआ है । इसलिये भारतीय दार्शनिक चिन्तनधारा में मनुष्य को इहलोक एवं परलोक में अभ्युदय प्राप्त करने एवं अन्ततः तत्त्वज्ञान द्वारा मोक्ष या निर्वाण की प्राप्ति प्रतिपादित है । भारतीय दार्शनिक चिन्तन मोक्ष अर्थात् निर्वाण परक होने के कारण प्रायः इस पर निवृत्त्यामक होने का दोषारोपण लगता है । वस्तुतः इस चिन्तन का आधार समाज एवं जगत् के प्राणी हैं और उन्हें इस संसार प्रपंच से, जन्म के बन्धन से मुक्त करना ही इस चिन्तन का लक्ष्य है । इसमें मनुष्य के इहलोक एवं परलोक को सुखी तथा समृद्ध बनाते हुए उत्तरोत्तर पुण्य संचय द्वारा देवत्व की प्राप्ति और अन्त में तत्त्वज्ञान द्वारा मोक्ष प्राप्ति का मार्ग प्रशस्त किया गया है ।

भारतीय दृष्टि से सामान्य परिभाषा के अनुसार अभ्युदय एवं निःश्रेयस को संक्षेप में—इहलोक एवं परलोक को सद्गतियों और सुख से पूर्ण करने वाले धर्मों को अभ्युदय धर्म तथा जगत् से आत्यन्तिक मुक्ति अर्थात् निर्वाण प्राप्त कराने वाले धर्मों को नैःश्रेयस् धर्म कहा है ''सुखमभ्युदयस्तत्र मोक्षो नैःश्रेयसो मतः''[1] नैःश्रेयस् की प्राप्ति के लिये भी प्रथमतः अभ्युदय धर्मों का पालन करना आवश्यक है । अभ्युदय की प्राप्ति होने पर ही नैःश्रेयस् की प्राप्ति होती है— ''प्राग् धर्माभ्युदयो यत्र पश्चान्नैःश्रेयसोदयः । सम्प्राप्याभ्युदयं यस्मादेति नैःश्रेयसं क्रमात्''[2] । आचार्य नागार्जुन ने अभ्युदय धर्मों को रत्नावली में अत्यन्त संक्षेप में

1. रत्नावली - 1.4
2. रत्नावली - 1.3

स्पष्ट रूप से कहा है[1] । तदनुसार पञ्चशील का पालन, काय, वाक् और चित्त द्वारा सम्पादित होने वाले दश कुशल कर्मों का पालन तथा अकुशल कर्मों से विरति । कुशल कर्मों के सम्पादन से मनुष्य को सभी जन्मों में सुख एवं सुगति, नरक, प्रेत एवं तिर्यक् जन्मों से मुक्ति तथा मनुष्य एवं देवों के रूप में उत्पन्न होकर सुख रूपी श्रीराज्य प्राप्त होता है । इसके विपरीत अकुशल कर्मों से दुर्गति एवं दु:ख की ही प्राप्ति होगी । संक्षेप में लोभ, द्वेष और मोह के वश से किये कर्म अशुभ कर्म तथा अलोभ, अद्वेष, अमोह से सम्पन्न कर्म शुभ कर्म हैं । शुभ एवं कुशल कर्मों के सम्पादन से ही अभ्युदय की प्राप्ति होगी । वहीं नै:श्रेयस् धर्म को अति गम्भीर बतलाया गया है । वस्तुत: नै:श्रेयस् की प्राप्ति के लिये यथाभूत सम्यक् तत्त्व का ज्ञान अपेक्षित है । यथाभूत ज्ञान की प्राप्ति के लिए बौद्धदर्शन के अनात्मवादी, क्षणभंगवादी एवं प्रतीत्यसमुत्पाद सिद्धान्त के साथ-साथ शून्यतावादी दृष्टि को जानना होगा। इसीलिये कहा है "नै:श्रेयस: पुनर्धर्म: सूक्ष्मो गम्भीरदर्शन:"[2] । इस गम्भीर दर्शन अर्थात् तत्त्व के सम्यक् ज्ञान से नै:श्रेयस् की प्राप्ति होती है । क्योंकि सभी पुरुषार्थों की सिद्धि सम्यक् ज्ञान के द्वारा होती है[3] । ज्ञान का सम्यक्त्व कैसा हो इसका विमर्श भिन्न-भिन्न हो सकता है । प्रमाण शास्त्र के अनुसार सम्यक् ज्ञान प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द आदि प्रमाणों पर आधारित होता है । संक्षेप में यही बौद्ध दृष्टि से अभ्युदय एवं नि:श्रेयस् की स्थापना है जिसे आचार्य नागार्जुन ने अपनी कृतियों में विशेषकर रत्नावली एवं सुहृल्लेख में प्रतिपादित किया है ।

इस चिन्तन का उत्कर्ष एवं प्रयोग हमें महायान दर्शन में मिलता है जहाँ बोधिचित्त एवं बोधिसत्त्व की अवधारणा की गई है । बोधिचित्त से युक्त सत्त्व बोधिसत्त्व कहलाते हैं। बोधिसत्त्व की साधना केवल स्व के अभ्युदय एवं नि:श्रेयस् के लिए नहीं है अपितु वह स्वार्थ सम्पत्ति अर्जित कर परार्थ के लिए उद्योगशील है । उसके लिये स्वार्थ गौण तथा सत्त्वार्थ मुख्य होता है । इसीलिए बोधिसत्त्व विभिन्न पारमिताओं की चर्या कर दु:ख संतप्त इस जगत् के प्राणियों के उद्धार के लिये प्रयत्नशील रहता है । वह संसार के यावत् प्राणियों के अभ्युदय और नि:श्रेयस् के लिए कृत संकल्प है । उसकी प्रतिज्ञा है, जब तक जगत् के समस्त प्राणियों का उद्धार न कर लूँ तब तक स्वयं बुद्धत्व प्राप्त नहीं करूँगा, परिनिर्वृत नहीं होउँगा । उसकी दृष्टि में मोक्ष अर्थात् निर्वाण में कोई रस नहीं है, यह

---

1. रत्नावली - 1.6-24
2. रत्नावली - 1.25
3. सम्यग् ज्ञानपूर्विका सर्वपुरुषार्थसिद्धिरिति—न्यायबिन्दु, पृ० 1

असार है । उसकी तो कामना है चराचर जगत् के प्राणियों को सुख एवं प्रमोद के सिन्धु मिले—

मुच्यमानेषु सत्त्वेषु ये ते प्रामोद्यसागराः ।
तैरेव ननु पर्याप्तं मोक्षेणारसिकेन किम् ।।[1]

मोक्ष की असारता को देखते हुए वह अपने निर्वाण की उपेक्षा कर जगत् के प्राणियों को निर्वाण या बुद्धत्व जैसे श्रेष्ठ लक्ष्य तक पहुँचाने तथा उनके उद्धार के लिये कृत संकल्प है । संकल्प की यह शक्ति उसे करुणा से मिलती है । वास्तव में यह करुणा साधारण करुणा नहीं है यह महाकरुणा कहलाती है । महाकरुणा चित्त से युक्त होने पर ही वह सत्त्व बोधिसत्त्व कहलाता है और बोधिसत्त्व चर्याओं द्वारा ही दुर्लभ बुद्धत्व प्राप्ति में समर्थ होता है । इस महाकरुणा का आधार दु:ख संतप्त समस्त चराचर जगत् है । महाकरुणा में सत्त्वों की अभ्युदय एवं नै:श्रैयस् दोनों की कामना समाहित है । इसीलिये महायान में बुद्ध से भी अधिक महत्त्व बोधिसत्त्वों को दिया है ।

वज्रयान में बोधिसत्त्व का रूपान्तरण वज्रसत्त्व के रूप में हुआ है । यहाँ वज्रसत्त्व बोधिसत्त्व से अनेक अर्थों में विशिष्ट हो जाता है । वज्र से यहां अच्छेद्य, अभेद्य रूप अभीष्ट है तथा सत्त्व इसलिये कि वह त्रिलोक के प्राणियों में विद्यमान है । यह बुद्ध बीज की तरह सर्वत्र अनुस्यूत है ''अभेद्यं वज्रमित्युक्तं सत्त्वं त्रिभवस्यैकता''[2] । वह सामान्य मनुष्य भी है और पंच बुद्ध से अभिन्न भी । दूसरी ओर वज्र से शून्यता और सत्त्व से ज्ञान-मात्रता अभिप्रेत है । शून्यता एवं ज्ञान अर्थात् प्रज्ञा की अभिन्नता ही वज्रसत्त्व है ''वज्रेण शून्यता प्रोक्ता सत्त्वेन ज्ञानमात्रता''[3] । प्रज्ञा ही बुद्ध एवं बोधिसत्त्वों की जननी भी है । इस प्रकार महाज्ञान रस से पूर्ण सत्त्व महासत्त्व कहे जाते हैं[4] । वज्रसत्त्व महासत्त्व की सत्त्वार्थ चर्या ही महारागनय चर्या की ओर इंगित करती है ।

महाराग के सिद्धान्त का प्रतिपादन बौद्ध तन्त्रों में ही हुआ हो ऐसा प्रतीत नहीं होता । प्रज्ञापारमिता साहित्य में भी इसका उल्लेख मिलता है ''महारागविशुद्धास्तु महासौख्या महाधना:''[5] । तन्त्रों में प्राचीनता की दृष्टि से विचार करें तो गुह्यसमाजतन्त्र को

1. बोधिचर्यावतार - 8.108
2. हेवज्रतन्त्र - 1.1.4
3. अद्वयवज्रसंग्रह- पृ० 24
4. महाज्ञानरसै: पूर्णो महासत्त्वो निगद्यते - हेवज्रतन्त्र - 1.1.5
5. अध्यर्धशतिका प्रज्ञापारमिता, महायानसूत्रसंग्रह-1, पृ० 92

प्राचीन माना गया है । इसमें समाधियों के रूप में महाराग का प्रारम्भिक निर्देश मिलता है जैसे "महारागसमयावलोकननाम समाधि"[1] एवं "महारागसंभववज्रं नाम समाधि"[2] । आर्यमंजुश्रीनामसंगीति जो सभी तन्त्रों का आधार है, इसमें महाराग का उल्लेख करते हुए कहा है "महामहमहाराग: सर्वसत्त्वरतिङ्कर:"[3] । इसकी टिप्पणी अमृतकणिका में इसकी व्याख्या एवं व्युत्पत्ति करते हुए कहा है—"महेति प्रज्ञा महामुद्रा सा महती यस्य स तथा । महान् रागोऽनालम्बकरुणात्मको यस्य स तथा । .....अथवा महान् लोकातिक्रान्तो मह उत्सव: सहजोल्लासो यस्य स तथा । तथाविधो महाराग: परमाक्षरसुखपूर्णत्वाद् भूमिपूरित्वाच्च वज्रानङ्गो वज्रसत्त्व इत्यर्थ: । अत एव सर्वसत्त्वरतिङ्कर:"[4] । सत्त्वों के प्रति राग ही महाराग है[5] ।

बौद्ध चिन्तन का जैसे-जैसे विकास हुआ उसका प्रकर्ष होता गया । इस प्रकर्षावस्था का दर्शन बौद्ध तन्त्र साधना एवं दर्शन में मिलता है । सम्पूर्ण बौद्ध चिन्तन का आधार प्रज्ञा एवं करुणा है । जहाँ करुणा अभ्युदय का साधन है वहीं प्रज्ञा तत्त्वज्ञान द्वारा नै:श्रेयस् प्राप्ति का साधन है । इन दोनों की अद्वयता वज्रयानी चिन्तन की पराकाष्ठा है । युगनद्धता एवं प्रभास्वरता इसकी परिणति है । इस दर्शन की विशेषता है इसमें साधक को लौकिक मार्ग से चलकर लोकोत्तर-भूमि में पहुँचना होता है और पुन: लोकोत्तरत्व की प्राप्ति के पश्चात् वहां से लौकिक भूमि में वापस आते हैं । इस प्रत्यावर्तन का मुख्य उद्देश्य महाकरुणा से प्रेरित सत्त्वार्थ है । लौकिक भूमि में वह पुन: भवचक्र में रहकर विविध लौकिक उपायों का अनुष्ठान करता है । यत: लोक में राग, द्वेष, मोह आदि का प्राबल्य रहता है, अत: साधक लौकिक चर्याओं और मार्ग का अनुसरण कर, कुशल कर्म पथों का सेवन कर लोकोत्तर भूमि में पहुँचते हैं । लोकोत्तर भूमि में साधक उन लौकिक धर्मों को अपने वश में कर पुन: लौकिक भूमि में आकर सत्त्वार्थ के लिये उनका प्रयोग करते हैं । वस्तुत: लौकिक भूमि को कर्म क्षेत्र बनाने के पीछे करुणा का मुख्य स्थान है । यही करुणा राग में परिवर्तित हो जाती है । महाकरुणा द्वारा संसार के प्राणियों के दु:खों को देख कर उन्हें वज्रधर के पद तक पहुँचाने की उसकी अदम्य इच्छा ही राग है । यह

1. गुह्यसमाजतन्त्र - पृ० 64
2. गुह्यसमाजतन्त्रप्रदीपोद्योतन - पृ० 6
3. आर्यमंजुश्रीनामसंगीति - 5.3
4. वहीं - पृ० 21
5. "सत्त्वानुरागान्महाराग:" वहीं - पृ० 139

सामान्य राग से विशिष्ट है अत: महाराग कहलाता है । महाराग के कारण ही लोक में सत्त्वार्थ राग चर्या करते हुए भी वह राग से निर्लिप्त रहता है[1] ।

एक नय के रूप में इसका उल्लेख, सिद्धों की रचनाओं में भी हुआ है । मुनिदत्त की चर्यागीतिकोश व्याख्या में एकाधिक बार ''महारागनय'' एवं ''महारागनयचर्या'' का उल्लेख हुआ है (पृ० 4, 5) । सरहपाद कहते हैं यदि इस काय को विषय रस से न सींचे तो कल्पतरु के समान दुर्लभ फल कैसे प्राप्त होगा ।

तनुतरचित्ताङ्कुरको विषयरसैर्यदि न सिच्यते शुद्धैः ।
गगनव्यापी फलदः कल्पतरुत्वं कथं लभते ।।[2]

तन्त्र साधना में साधक विषय रस से सिक्त रहता है अर्थात् लोक में विषयों का, पंचकाम गुणों का उपभोग करता है । क्योंकि ऐसे साधक लोकोत्तर भूमि से सत्त्वार्थ लौकिक भूमि में अवतरित होते हैं । अत: इस प्रकार के साधकों की विशेषता इंगित करते हुए राग से ही राग-मुक्ति का सिद्धान्त प्रतिपादित किया गया है । महाराग चित्त से युक्त योगी परार्थ सम्पन्न कर सुगति को प्राप्त करता है जबकि साधारण बाल जन इससे सांसारिक बन्धनों में ही बंधता है और भवचक्र में भ्रमित होता रहता है[3] । यह महाराग प्राकृत राग से अतीत है अर्थात् प्राकृत राग के बन्धन से मुक्त है । इसलिये पंचकामोपभोगों द्वारा महाराग का सम्यक् ज्ञान लाभ कर विमुक्त हो जाता है अर्थात् वह वज्रधर या भगवान् का पद प्राप्त कर लेता है— ''प्राकृतरागादि बन्धनविगमेन पंचकामोपभोगेन महारागस्य सम्यक् परिज्ञानलाभाद्विमुक्तिर्भगवान्[4] ।

---

1. (क) निःसङ्गो विचरेद्योगी सर्वभावेषु सर्वदा ।
   निर्लेप: पङ्कमध्येऽपि संसारे निर्वृतायते ।। (संवरोदय - 29.14)
   (ख) यथा पद्मं सुरक्तं तु रागदोषैर्न लिप्यते । (अध्यर्धशतिका, म०सू०सं०, पृ० 92)
2. चर्यागीतिकोश व्याख्या - पृ० 4
3. येन चित्तेन ते बाला: संसारे बन्धनं गताः ।
   योगिनस्तेन चित्तेन सुगतानां गतिंगताः ।। (च०गी० पृ० 43)
   येन येन हि बध्यन्ते जन्तवो रौद्रकर्मणा ।
   सोपायेन तु तेनैव मुच्यन्ते भवबन्धनात् ।। (हे०त० 2.2. 50)
   रागेण बध्यते लोको रागेणैव विमुच्यते । (हे०त० 2.2.51)
4. नामसंगीति- अमृतकणिका - पृ० 67

बोधिसत्त्वयान की तरह तन्त्रयान में भी निर्वाण को असार माना है । इसीलिये वज्रसत्त्व लोकोत्तर भूमि से पुनः इस लौकिक भूमि पर लौटता है । लोकोत्तर भूमि में पहुँचते ही वह परिनिर्वाण का सामर्थ्य पा लेता है । विराग का अर्थ है निर्वाण प्राप्त करना। क्योंकि सत्त्वार्थ के लिये महाराग का होना आवश्यक है और महाराग के पात्र सत्त्व इसी नारकीय भव में हैं, अतः भव को परमानन्द कहा है "परमानन्दं भवं प्रोक्तं निर्वाणं च विरागतः"[1] । यदि विराग चित्त उत्पन्न हो जाय तो सत्त्वार्थ अभ्युदय एवं नैःश्रेयस् की भावना नहीं रहेगी और परिनिर्वृत हो जाएगा । अतः तन्त्र की दृष्टि से विराग चित्त को पाप कहा गया है "न विरागात् परं पापं"[2] । महाराग से ही विराग का नाश होता है "इह यदा क्षररागो नष्टस्तदा परमाक्षरो भवति । परमाक्षरो महारागः । महारागाद्विरागो नष्टः"[3] । महाराग से युक्त सत्त्व को विमुक्ति के लिये प्रयास नहीं करना पड़ता है क्योंकि वह उस अवस्था तक पहुंचा है जहाँ विमुक्ति स्वतः समाहित होती है । पंचक्रम में आचार्य नागार्जुन कहते हैं[4]—

गिरीन्द्रमूर्ध्नः प्रपतेत् तु कश्चित्
नैच्छेच्च्युतिं स च्यवते तथापि ।
गुरुप्रसादाद्विहितोपदेशा-
न्नेच्छेद्विमुक्तिं स तथा विमुक्तः ।।

उसे निर्वाण एवं नैःश्रेयस् की प्राप्ति के लिये उद्यम नहीं करना पड़ता है क्योंकि वह तो विमुक्त ही है । इसीलिये नामसंगीति में कहा है "विरागादि महारागो" (ना०सं० 8.33) अर्थात् महाराग के आदि में विराग है । कहने का तात्पर्य है महारागनय में निर्वाण अन्तर्भुक्त है ।

वज्रयान में अन्तिम प्राप्तव्य पद को प्रभास्वरता, शून्यता, युगनद्धता, महामुद्रा, महासुख इत्यादि अनेक शब्दों द्वारा कहा है । इनकी प्राप्ति महाराग के प्रति अनुराग से, महाराग स्वरूप होकर तथा महाराग समाधि में स्थित होकर होती है—

---

1. हेवज्रतन्त्र - 1.8.84
2. उद्धृत - नामसंगीति टिप्पणी अमृतकणिका - पृ० 43 तथा "विरागन्न परं पापं" दोहाकोश व्याख्या - पृ० 154
3. विमलप्रभा - III, पृ० 98
4. पंचक्रम - 2.69

महारागानुरागेण महारागस्वभावतः ।
महारागसमाधिस्थो महामुद्रां प्रसाधयेत् ।।[1]

इसीलिये आचार्य शान्तरक्षित बुद्धों के इस अनाविल रागज्ञान पर विस्मय प्रकट करते हुए कहते हैं— अद्‌भुत है सर्व बुद्धों का यह अनाविल राग ज्ञान जो राग और विराग दोनों का विदर्भण कर सर्वसौख्य (अभ्युदय और नैःश्रेयस्) को बतलाता है—

अहो हि सर्वबुद्धानां रागज्ञानमनाविलम् ।
हत्वा रागं विरागं च सर्वसौख्यं वदन्ति ते ।।[2]

इस प्रकार सर्व बुद्धों का यह महारागनय अन्य सभी नयों में उत्तम है, श्रेष्ठ है—

"इदं तत् सर्वबुद्धानां महारागनयोत्तमम्" ।[3]

इस प्रकार ज्ञात होता है कि बौद्धतन्त्र में महारागनय का एक अव्यक्त सिद्धान्त अनुस्यूत है जो अभ्युदय एवं नैःश्रेयस् को प्रदान करने वाला है । यह एक यात्रा है जो राग से विराग की ओर जाती है और पुनः दुगुने वेग से राग की ओर लौटती है । ऐसी अवस्था में राग राग न रहकर महाराग बन जाता है । दर्शन की विचार भूमि में[4] भाव से अभाव और फिर अभाव का भाव या अस्ति का नास्ति और पुनः नास्ति की अस्तिता या चित्त से अचित्त और अचित्तता का पुनः चित्तता[5] । दूसरे शब्दों में अनस्तित्वाधारित अस्तित्व भी कह सकते हैं । इन्हीं भावों को तन्त्र में प्रकटता से भी प्रतिपादित करते हैं "महाकरुणारागारञ्जितेनाचित्तचित्तेन[6] । इस तत्त्वज्ञान द्वारा या तत्त्व के सम्यक् ज्ञान द्वारा जिस पुरुषार्थ की सिद्धि अर्थात् निर्वाण की प्राप्ति है या प्रभास्वरता की उपलब्धि है, वह अनुपम है ।

यहां अति संक्षेप में "महारागनय" और "महारागचर्या" को अभ्युदय और नैःश्रेयस् के सन्दर्भ में व्याख्यायित करने का प्रयास किया गया है । यह लेख "महाराग" के उस गम्भीर दर्शन की ओर संकेत मात्र है । इन उद्धरणों के विमर्श से यह विदित होता है कि बौद्धतन्त्र दर्शन में महारागनय का गम्भीर दर्शन अन्तर्निहित है ।

---

1. सुभाषितसंग्रह - पृ० 51
2. तत्त्वसिद्धि - पृ० 20
3. गुह्यसमाजप्रदीपोद्योतन - पृ० 85
4. न हि भगवन्.स भावो नाभावः तेनोच्यते आत्मभाव इति" - वज्रच्छेदिका (म०सू०सं०) पृ० 78
5. 'अस्ति तच्चित्तं यच्चितमचित्तम्' — अष्टसाहस्रिका - पृ० 3
6. नामसंगीतिटिप्पणी अमृतकणिका - पृ० 43

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. रत्नावली : बौद्ध संस्कृत ग्रन्थावली-10, मिथिला विद्यापीठ, दरभंगा, 1960
2. चर्यागीतिकोश : सं० प्रबोधचन्द्र बागची एवं शान्तिभिक्षु शास्त्री, विश्व-भारती, शान्तिनिकेतन, 1956
3. आर्यमंजुश्रीनामसंगीति : बनारसीलाल, भोट भारतीय ग्रन्थमाला, 30, सारनाथ, वाराणसी, 1956
4. गुह्यसमाजतन्त्र : बौ०सं०ग्रं०-9, मिथिला विद्यापीठ, दरभंगा, 1965
5. हेवज्रतन्त्र : डी० स्नैलग्रोव, आक्सफोर्ड युनिवर्सिटी प्रेस, लन्दन, 1980
6. सुभाषितसंग्रह : सी० बैंडल, ले मैसन, रिप्रिंट, लन्दन, 1905
7. पंचक्रम : डी लॉ वेली पुंसे, गैंड, 1896
8. विमलप्रभा—(1-3) : केन्द्रीय उच्च तिब्बती शिक्षा संस्थान, सारनाथ, वाराणसी ।
9. तत्त्वसिद्धि : सं० एस० रिन्पोछे एवं कामेश्वरनाथ मिश्र (प्रकाशनाधीन), केन्द्रीय उच्च तिब्बती शिक्षा संस्थान, सारनाथ, वाराणसी ।
10. गुह्यसमाजतन्त्रटीका प्रदीपोद्योतन : चिन्ताहरण चक्रवर्ती, के०पी० जायसवाल रिसर्च इंस्टीच्यूट, पटना, 1984
11. अध्यर्धशतिका प्रज्ञापारमिता : बौ०सं०ग्रं०-16, मिथिला विद्यापीठ, दरभंगा, 1961
12. बौधिचर्यावतार : बौ०सं०ग्रं०-12, मिथिला विद्यापीठ, दरभंगा, 1960
13. दोहाकोश : प्रबोधचन्द्र बागची, कलकत्ता संस्कृत सीरीज, 1938
14. अद्वयवज्रसंग्रह : हरप्रसादशास्त्री, गा०ओ०सी० 40, ओरियंटल इंस्टीच्यूट, बड़ौदा, 1927
15. न्यायबिन्दु : धर्मोत्तरप्रदीप-सं० दलसुख मालवणियां, के०पी० जायसवाल रिसर्च इंस्टीच्यूट, पटना, 1971
16. अष्टसाहस्रिका प्रज्ञापारमिता : बौ०सं०ग्रं०-4, मिथिला विद्यापीठ, दरभंगा, 1960
17. वज्रच्छेदिका : बौ०सं०ग्रं०-17, मिथिला विद्यापीठ, दरभंगा, 1961
18. संवरोदयतन्त्र : तत्त्वनिर्देशपटल ऑफ संवरोदयतन्त्र, शीनीचीत्सुदा, "बुक्यो गाकु" भाग-1, जुलाई 1976, पृ० 27-43.

•

हेरुकाद्यवज्रवाराहीपरमरहस्यतन्त्रम्

HERUKĀDYAVAJRAVĀRĀHĪPARAMA-RAHASYATANTRAM

आदर्श प्रतियाँ

क. राष्ट्रीय अभिलेखालय काठमाण्डू, नेपाल
लगत सं० 3/666, पत्र–24, देवनागरी

ख. इन्स्टीच्यूट फॉर एडवांस स्टडीज ऑफ वर्ल्ड रिलीजन्स, न्यूयार्क
MBB-I-119, पत्र–42, देवनागरी

ग. इन्स्टीच्यूट फॉर एडवांस स्टडीज ऑफ वर्ल्ड रिलीजन्स, न्यूयार्क
MBB-III-23, पत्र–32, नेवारी

घ. राष्ट्रीय अभिलेखालय काठमाण्डू, नेपाल
लगत सं० 4/1035, पत्र–29, नेवारी

संकेत-सूची—

व० ति०	=	वसन्ततिलका
यो० सं०	=	योगिनीसंचारतन्त्रम्
ज्ञानो०	=	ज्ञानोदयतन्त्रम्
स्वा०	=	स्वाधिष्ठानप्रभेदम्

हेरुकाद्यवज्रवाराहीपरमरहस्यतन्त्रम्

प्रथमो निर्देशः

ॐ नमः श्रीहेरुकाय।

श्रीवज्रवाराहीयोगराजोत्तमोत्त[म]माह—

अथातः संप्रवक्ष्यामि योगराजोत्तमोत्तमम् ।
षट्चक्रस्य यथायोगं योगतन्त्राद्विनिर्गतम् ।। 1 ।।

जिह्वां तालुगतां कृत्वा योगी योगपरो भवेत् ।
वीरस्य वीरजिह्वायां जिह्वातालुतले पुनः ।। 2 ।।

योगजं स्फारयेद्बुद्धं सर्वाशाकाशवस्तुषु ।
सिद्ध्यते जन्मनीहैव मन्दपुण्योऽपि मानवः ।
गुरुपादप्रसादेन योगाभ्यासवशेन तु ।। 3 ।।

उक्तश्च—

वीरस्य वीरजिह्वायां जिह्वां तालुतले[1] पुनः ।
तालुदेशे तु वीरेशं कृत्वा ध्यानपरो भवेत् ।। 4 ।।

शिरोनाभिगतं चक्रमेकाराकृतिसंस्थितम् ।
हृदयकण्ठसंस्थं तु वंकारं(र)सदृशं मतम् ।। 5 ।।

नाभिमध्ये गतं पद्मं चतुःषष्टिदलान्वितम् ।
ऊर्ध्वमुखं महोज्ज्वलं भ्रमन्तं रथनेमिवत् ।। 6 ।।

निर्माणचक्रमध्यस्थं अंकारं च प्रभास्वरम् ।
द्वात्रिंशद्व्यञ्जनाने(न्ये)व अनुलोमविलोमतः ।। 7 ।।

---

1. ताल्वन्तरे-ज्ञानोदये-पाठः ।

षोडशाब्दविशुद्ध्या च षोडशशून्यतास्तथा ।
त्रिकोणं रक्तवर्णं च चित्रं[1] सप्तार्कसंनिभम् ।। 8 ।।

हृदये तु तथा चैव पद्ममष्टदलं स्मृतम् ।
प्रहराष्टविशुद्ध्यार्याष्टाङ्गमार्गविशुद्धि(शोधि)तम् ।। 9 ।।

चतुरस्रं महाकृष्णं धर्मचक्रमधोमुखम् ।
दिग्दलेषु स्थितं मन्त्रं मां त्रां ह्रीं खं विदिग्दले ।। 10 ।।

लां मां पां तां तदूर्ध्वं च अ क च ट त प य शम् ।
भूतभौतिकरूपेण मध्ये हूंकारभूषितम् ।। 11 ।।

कण्ठे चोर्ध्वमुखं वापि पद्मं तु षोडशच्छदम् ।
षोडशदण्डसंक्रान्तिं षोडशशून्यताब्दिकम् ।। 12 ।।

विशुद्ध्या चार्द्धचन्द्राभं रक्तसंभोगचक्रकम् ।
दलेष्वेव स्वैर्युक्तं मध्ये वोंकारराजितम् ।। 13 ।।

द्वात्रिंशत्पत्रिणं पद्मं द्वात्रिंशल्लक्षणान्वितम् ।
द्वात्रिंशन्नाडिकाशुद्ध्या मूर्ध्नि मध्ये व्यवस्थितम् ।। 14 ।।

वर्तुलं कुन्दसंकाशं महासुखमधोमुखम् ।
कादीनि व्यञ्जनान्येव दलेषु च यथाक्रमैः ।। 15 ।।

तदूर्ध्वेषु स्वराश्चैवमनुलोमविलोमतः ।
तस्य मध्ये महाज्ञानं हूंकारं[2] बिन्दुरूपकम् ।। 16 ।।

[3]यत्तत् सम्बोधिविख्यातं पिण्डीभूतमनाविलम् ।
संसारमार्गविच्छिन्नं प्रपञ्चोपशमं शिवम् ।। 17 ।।

---

1. विचित्रं-सर्वमातृकासु ।
2. हंकारं-क. ।
3. एतत्-ख. ।

निर्द्वन्द्वं परमं शुद्धं ग्राह्यग्राहकवर्जितम् ।
सर्वज्ञं सर्ववित्सर्वं सर्वव्यापि महासुखम् ।। 18 ।।

सर्वबुद्धमयं नाथं सर्वसत्त्वहृदि स्थितम् ।
शुद्धस्फटिकसंकाशं व्योमवद्व्यापितं जगत् ।। 19 ।।

तन्मूलं सर्वलोकानां स्थिरात्मनां चलात्मनाम् ।
हासदर्शनपाण्याप्तितन्त्रत्रय[1]व्यवस्थितम् ।। 20 ।।

रागं चैव विरागं च वर्जयित्वा घुणः स्थितः ।
सर्वनाडीसमायोगं डाकिनीजालसंवरम् ।। 21 ।।

चतुश्चक्रप्रभेदेन संप्रवक्ष्ये यथाक्रमम् ।
आनन्दं परमानन्दं विरमं सहजं तथा ।। 22 ।।

विचित्रं च विपाकं च विमर्द्दनं विलक्षणम् ।
दुःखसमुदयं मार्गं निरोधं च यथाक्रमम् ।। 23 ।।

चतुस्तत्त्वं चतुःसन्ध्यं चतुःसत्यं चतुर्युगम् ।
चतुःपीठं चतुःसेकं चतुःसागरमेव च ।। 24 ।।

चत्वार ऋतवश्चैव ओडियानादिकं चतुः ।
एवंमयाक्षरं चैव चतुर्देवीस्वभावतः ।। 25 ।।

चतुर्मुद्रा चतुर्योगं चतुःक्षेत्रं च शेषतः ।
ऊर्ध्वचक्रं महोज्वालं पद्मञ्च षोडशच्छदम् ।। 26 ।।

वह्निमण्डलसमारूढं मध्ये आकारभूषितम् ।
उष्णीषमूर्ध्वदेशस्थं पद्मञ्च वेदपत्रिकम् ।।
शशाङ्कमण्डलारूढं हंकारं बिन्दुरूपकम् ।। 27 ।।

1. तत्र त्रय-क.ग.घ. ।

[1]यज्जातरूपमणिशङ्खशिलाप्रवाल-
वैडूर्यताम्ररजतादिषु संस्थितं च ।
तत्रैक एव हि शशी गगनोदरान्ताद्
व्यावर्तमानवपुषा प्रतिभाति यद्वत् ।। 28 ।।

पुनरुक्तं च—

निष्पन्दानन्दशुक्रं कुलिशमपि च तद्धारणाद्वज्रधृग्वै
बीजं कायस्य शुक्रं जिनजिगिति पिता नाभिचक्रे सुखं यत्।
तल्लक्ष्यं लक्ष्यमाणो हृदि परमसुखं नाथ आरोलिगेव ।
तद्वेद्यं येन कण्ठे धृतमचलसुखं वेदको रत्नधृक् सः ।। 29 ।।

प्रज्ञाधृग् येन तन्त्रे शिरसि धृतमिदं शुक्रवैमल्यसौख्यं
उष्णीषे ब्रह्मरन्ध्रेऽक्षरपरमसुखं षोडशानन्दपूर्णम् ।
या प्रज्ञा निःस्वभावा परमशशिकला षोडशी पूर्णिमान्ते
साऽनन्ता यस्य विद्या शिरसि सकुलिशे षष्टमो वज्रसत्त्वः ।। 30 ।।

रहस्यं पृथिवीधातौ परमेऽपि जले तथा ।
रहस्ये त्वनलाख्ये तु वायौ सर्वात्मसंस्थितम्[2] ।। 31 ।।

अथवाऽऽदर्शरूपे तु समतायां तथैव च ।
[3]प्रत्यवेक्षा च बोधौ च कृत्यानुष्ठानके तथा ।। 32 ।।

सदा स्थितमिदं प्रोक्तं सुविशुद्धस्वभावकम् ।
वैरोचनेऽथवा चैव अथवा रत्नसम्भवे ।। 33 ।।

अथवा चामिताभे[4]वा यद्वाऽमोघे सदा स्थितम् ।
पञ्च[5]ज्ञानमयं पिण्डं बिन्दुरूपं मनोमयम् ।। 34 ।।

---

1. यद्धेमरूप्य-स्वाधिष्ठाने पाठः ।
2. त्मनिस्थिता-क. ।
3. प्रत्यवेक्षणा बोधे-वसन्ततिलके पाठः ।
4. भादौ-सर्वत्र पाठः ।
5. पञ्चामृत-व.ति. ।

सुविशुद्धमहाज्ञानं सर्वदेवीस्वरूपकम् ।
वज्रसत्त्व इति ख्यातं परं सुखमुदाहृतम् ।।35।।

स्वयंभूरूपमेतत्तु धर्मकायं प्रकीर्तितम् ।
अस्यैव सहजा प्रज्ञा स्थिता तद्गतरूपिणी ।।36।।

कर्ममारुतनिर्धूता ज्वलन्ती नाभिमण्डले ।
वाराहीति सुविख्याता वसन्ततिलका स्मृता ।।37।।

बालाग्रशतसहस्राङ्गी विद्युच्छतसमप्रभा ।
देवतायोगकालेषु रोमकूपाग्रसन्धिषु ।।38।।

निश्चरन्ती दिशः सर्वास्तर्जयन्ती सुराऽसुरान् ।
हृदये धर्मचक्रे तु दग्ध्वा संभोगचक्रतः ।।39।।

नासारन्ध्रेण निष्क्रम्य दक्षिणेन समन्ततः ।
ऊर्णाकोशगतेनापि रन्ध्रेण दशदिक्षु वै ।।40।।

बुद्धानां बोधिसत्त्वानां नासारन्ध्रेण वामतः ।
प्रविश्य शिखायां चक्रं समादह्य विनिष्क्रमेत् ।।41।।

पूर्वोक्तेनैव रन्ध्रेण शिखायां तु प्रवेशयेत् ।
दग्धानां चैव बुद्धानामानन्दं जनयेत् पुनः ।।42।।

नाभिमण्डलमागम्य स्थिता भवति पूर्ववत् ।
एष योगवरं(रः) श्रेष्ठः सर्वदुःखक्षयंकरः ।।43।।

मतिमान्योगसिद्धश्च योगिन्य(नां) च वरप्रदः ।
वाचासिद्धिपदं चैव वज्रयानोपदेशकः ।।44।।

अश्रुतं देशयेद्धर्मं सत्त्वानां च पतिर्भवान्(वेत्) ।
देशनातु(दु)त्तरादेशं अन्तर्द्धादि प्रसिद्ध्यति ।।45।।

यत्किञ्चित्त्रिषु लोकेषु तत्सर्वं पश्यते क्षणात् ।
इत्येवं योगराजं च रहस्यं बुद्धगोचरम् ।। 46 ।।

उत्तमोत्तमपुण्यं वै महामुद्रावरप्रदम् ।
लोभमोहात्कदाचिद्यो विज्ञानतमसावृतम् ।। 47 ।।

परमं कथयेत्तत्त्वं नाभिषिक्तस्य कस्यचित् ।
स मूढो म्रियते सद्यो घोरैर्विघ्नैर्विनायकैः ।
रोगैर्नानाविधैरस्त्रैर्मारितो नरकं व्रजेत् ।। 48 ।।

एवं ज्ञात्वात्मयोगीन्द्रो न कथेद्यस्य कस्यचित् ।
गुह्याद्गुह्यतरं तत्त्वं गोपनीयं प्रयत्नतः ।। 49 ।।

।। इति षट्चक्रयोगम् ।।

इति श्रीहेरुकाद्यवज्रवाराहीयोगराजोत्तमोत्तमपरमरहस्ये प्रथमो निर्देशः ।

•

द्वितीयो निर्देशः

समविषममहासुखसप्तत्रिंशन्महाबोधिपक्षतत्त्व[स्थ]धर्मस्वभावस्थितं स्वाङ्गनाडीचतुश्चक्रमुखं(ख्यं) सपञ्चस्वरद्वादशमात्राश्चतुस्त्रिंशदाभूषितव्यञ्जनं कायवाक्चित्तभेदानां चतुष्पीठादिकानां दशानां भुवामीश्वरं सर्वगं सर्वजन्तुस्वहृदिमध्यगं व्योमरूपं परं शान्तम्।। 1।।

श्रीहेरुकं परमनिर्वृतितत्त्वरूपं
प्रोद्यद्वसन्ततिलकास्फुरणोज्ज्वलाभम् ।
कायत्रयप्रसरसंचितनाडिचक्र-
नाथं प्रणम्य जगतः स्वपरार्थसौख्यम् ।। 2।।

वसन्ततिलकां वक्ष्ये योगपीठविनिर्गताम् ।
सबाह्याध्यात्मरूपेण श्रीचक्रसंवरक्रमात् ।। 3।।

श्रीवज्रडाकिनी सिद्धा स्वदेहे संव्यवस्थिता ।
अति स्वल्परुचीनां तु स्पष्टावगमहेतुना ।। 4।।

कृत्रिमं मण्डलं त्यक्त्वा कृत्रिमं होमकर्म च ।
कृत्रिमां भावनां चापि कृत्रिमं जपमेव च ।। 5।।

कृत्रिमं सर्वमित्यादि स्वभावयोगरूपतः ।
कृत्रिमा प्रक्रिया बाह्या स्वरूपप्रतिपत्तये ।।
स्वरूपप्रतिपत्तौ तु प्रक्रिया नैव कारणम् ।। 6।।

यथा पारार्थिभिः कैश्चित् कोलो वा सुप्रयुज्यते ।
त्यज्यते पारमागम्य प्रक्रियापि तथैव सा ।। 7।।

अथाध्यात्मविधिं वक्ष्ये गुह्यज्ञानोत्तमोत्तमम् ।
[1]भावना हि मया चोक्ता विद्यामन्त्राणि विस्तरात् ।। 8।।

---

1. भावनाया-सर्वत्र ।

नाख्यातं त्वया [1]किंचिद्विज्ञानेन तु ज्ञानिनाम् ।
[2]ये न जानन्ति सा क्षिप्रं [3]गुरुपर्वयथोदितम् ।। 9 ।।

जन्मकोटिसहस्त्रं वै मया ज्ञानेन चोदितम् ।
श्रद्धामुत्पादितां सम्यग्योगचर्यानयस्थितम् ।। 10 ।।

जडमूर्खकूपायस्य बालज्ञानं तु ज्ञानिनाम् ।
अपरिपाचितसत्त्वस्य बाह्यशास्त्रबिडम्बकाः ।। 11 ।।

तेऽपि सर्वे न जानन्ति अज्ञानतमसावृताः ।
अभिमानरताश्चैव[4] मानादि स(सु)प्तचेतसः ।। 12 ।।

तेऽपि सर्वे न जानन्ति रहस्यं बुद्धगोचरम् ।
श्रीहेरुकसमावेशमाचार्यस्य महात्मनः ।। 13 ।।

सिद्धिरुत्पद्यते क्षिप्रं सद्यः प्रत्ययकारका ।
संवरं विविधं ज्ञात्वा विधानविधिसेवितम् ।। 14 ।।

एतेन सर्वज्ञवर्णित्वां (त्वं) समस्तं भुवनत्रयम् ।
दर्शनं स्पर्शनं चैव श्रवणस्मरणेन वा ।।
मुच्यते सर्वपापेभ्य एवमेव न संशयः ।। 15 ।।

वक्ष्ये शरीरस्य तथागतस्य
सद्भावनामण्डलहोमयागम् ।
नाड्याः स्वरूपेण परं प्रधानं
क्रियां सबाह्यात्मरहस्यरूपैः ।। 16 ।।

सप्तत्रिंशन्महाबोधिपक्षधर्मस्य लक्षणैः ।
दैवतैर्हेरुकाद्यैस्तु नाडीरूपेण संस्थिता ।। 17 ।।

---

1. कश्चिद् मिथ्याज्ञानं-यो०सं० ।
2. येन ज्ञातव्य-यो०सं० ।
3. गुह्यपर्व-क.ख.ग.घ. ।
4. नित्यं-यो०सं० ।

शरीरं मण्डलं रम्यं चतुर्द्वारं यथोदितम् ।
अष्टाभिःस्वाङ्गभूतैस्तु स्तम्भैस्तैर्विधृतं स्थितम् ।। 18 ।।

समन्तात्सर्वभावेन चतुरस्त्रं प्रकीर्तितम् ।
कायवाक्चित्तरूपेण त्रिचक्रात्मकमुच्यते ।। 19 ।।

गिरिमस्तककिञ्जल्के भै(वै)रम्भा[1]दि यथाक्रमम्।
गुरुपर्वक्रमेणैवमुत्पन्नं मण्डलं ततः[2] ।। 20 ।।

मध्ये च मण्डलं रम्यं पञ्चतथागतात्मकम् ।
पञ्चकायात्मकं पञ्चचक्रं चैव यथोदितम् ।। 21 ।।

रोमकीलमिति प्रोक्तं चर्मप्राकारमेव च ।
आत्मस्त्रग्वज्रजालं वै कङ्कालं वज्रपञ्जरम् ।। 22 ।।

वितानं चौमिकं चैव भूमिर्वज्रमयी क्षतम् ।
वज्रज्वालानलार्कं च चण्डाली ज्ञानयोगिनी ।। 23 ।।

स्थितः पादतले वायुभैं(वैं)[3]रम्भो धनुराकृतिः ।
स्थितस्त्रिकटिदेशे तु त्रिकोणे ज्वलनस्तथा ।। 24 ।।

वर्तुलाकाररूपो हि वरुणस्तूदरे स्थितः ।
हृदये पृथिवी चैव चतुरस्त्रं समन्ततः ।। 25 ।।

कङ्कालदण्डरूपो हि सुमेरुर्गिरिराट् तथा ।
तच्छिरोभागसंस्थं तु द्वात्रिंशद्दलपङ्कजम् ।। 26 ।।

स्वरव्यञ्जनसम्भूतं द्वात्रिंशद्बोधिमासनम्[4] ।
पद्ममध्यगतं यत्तच्च[5]तुर्मण्डलमुच्यते ।। 27 ।।

---

1. वैरम्भादि–व० ति० ।
2. हि तत्–व० ति० ।
3. वैरम्भो–व० ति० ।
4. मानसम्–क .।
5. चन्द्र–व० ति० ।

तस्य मध्ये गता नाडी ज्वलद्वह्निस्वरूपिका ।
कदलीपुष्पसंकाशा लम्बमाना त्वधोमुखी ।। 28 ।।

तस्य मध्ये स्थितो वीरः सर्षपस्थूलमात्रकः ।
[1]हूंकारोऽनाहतं बीजं स्रवत्तुषारसन्निभम् ।। 29 ।।

ऋतुवह्निशिलानादैर्जनकः काल्मु(ल्यु)पायकः ।
सुविशुद्धधर्मधातुज्ञानात्मकः स्वरूपकः ।। 30 ।।

अङ्गप्रत्यङ्गसर्वेषु व्यापको व्योमसन्निभः ।
वसन्त इति विख्यातो देहिनां हृदिनन्दनः ।। 31 ।।

वडवानलरूपा तु वाराही तिलका स्मृता ।
कर्ममारुतनिर्धूता ज्वलन्ती नाभिमण्डले ।। 32 ।।

वसन्तं प्राप्य सन्तुष्टा समापत्त्या व्यवस्थिता ।
आली प्रज्ञास्वरूपा तु सुविशुद्धा लंकेश्वरी ।। 33 ।।

एष श्रीहेरुको वीरो वसन्ततिलका स्मृता ।
योगिनीरूपमाधाय संस्थिता सचराचरे ।। 34 ।।

कायवाक्चित्तभेदेन त्रिविधो द्वारनिर्गमे(मः) ।
गत्या(ता)गतैः करोत्येषु(ष) सर्वदेहे व्यवस्थितः ।। 35 ।।

नाभावं(व)काररूपेण ह्रस्वं तु परिकीर्तितम् ।
हृदयेऽपि हि हूंकारो दीर्घमात्राद्वये स्थितः ।। 36 ।।

कण्ठे चोंकाररूपेण त्रिमात्रः प्लुत उच्यते ।
ललाटे तु [2]हूंकारोऽसौ नादो बिन्दुरनाहतः ।। 37 ।।

---

1. हुंकारो-क. ।
2. हुंकारो-क, हंकारे-व० ति० ।

पृथिव्यादिमहाभूतश्चतु[1] श्चक्रप्रभेदतः ।
चतुःसन्ध्यामधिष्ठाय चतुःक्षणसमुद्भवः ।। 38 ।।

चतुरानन्दरूपं तु चतुर्योगपरायणम् ।
परमानन्दरूपेण क्रियाकारकभावितः ।
श्रीवज्रसत्त्वरूपेण क्रीडतीह यथासुखम् ।। 39 ।।

दलानां च चतुष्केऽपि चतुर्दिक्षु व्यवस्थिताः ।
चतस्रो भूतनाड्यस्तु चित्तवज्रपदे स्थिताः ।। 40 ।।

शब्दवहा शशी नाडी डाकिन्यादर्शरूपिणी ।
लामा क्षीरवहा नाडी समता गन्धवाहिनी ।। 41 ।।

खण्डरोहा प्रत्यवेक्षा स्निग्धा नाडी रसे(सा)वहा ।
रूपिणी मधुरा नाडी कृत्यानुष्ठानस्पर्शवहा ।। 42 ।।

विदिक्ष्ववस्थिता नाड्यश्चतस्त्रस्तद्गता अपि ।
पञ्चामृतवहास्तास्तु[2] तत्पूजारूपमास्तृता ।। 43 ।।

चतुःपूजाः समाख्यातास्तद्रूपा एव भावतः ।
इति देहस्य हृन्मध्ये पञ्चनाड्यो व्यवस्थिताः ।
बुद्धभूमीति विख्याता इति चक्रं महासुखम् ।। 44 ।।

इति श्रीहेरुकाद्यवज्रवाराहीयोगराजोत्तमोत्तमपरमरहस्ये द्वितीयो निर्देशः ।

•

1. चतुःक्षण-व० ति० ।
2. वहास्नातुं-क.ख.ग.घ. ।

तृतीयो निर्देशः

कायवाक्चित्तचक्रे तु[1] चतुर्विंशत्युदाहृताः ।
पीठादिभेदमाश्रित्य स्थाने स्थाने व्यवस्थिताः ।। 1 ।।

शिरसस्तु समुद्भूता नाड्यः शिरसिजाः स्मृताः ।
रजःसत्त्वतमोरूपास्तासां मध्ये तु नायिका ।। 2 ।।

पुल्लीरे तु प्रचण्डाख्या नखदन्तवहा स्मृता ।
अजानाडी शिरोदेशे खण्डकपालिना सह ।। 3 ।।

जालन्धरे तु चण्डाक्षी केशरोमवहा तथा ।
हतानाडी शिखादेशे महाकङ्कालिकेन तु ।। 4 ।।

ओडियाने मलानाडी[2] सव्यकर्णे प्रभावती ।
कङ्कालेन सुशोभाङ्गी स्थिता त्वङ्मलधारिणी ।। 5 ।।

अर्बुदे पृष्ठवंशे तु विकटदंष्ट्रिणा वरा ।
[3]पिशितवहा महानासा चत्वारः पीठसंज्ञया ।। 6 ।।

दानपारमिता दुःखज्ञानप्रमुदिता परा ।
गोदावरीश्रुतेर्वामे श्रीसुरावैरिणा सह ।। 7 ।।

रजानाडी स्नायौ(यु)वहा वीरमती सुखावती ।
रामेश्वरे भ्रुवोर्मध्ये खर्वर्यस्थिवहा वरा ।। 8 ।।

---

1. चक्रेषु-व० ति० ।
2. महानाडी-घ. ।
3. पेश्यवहा-क.ख.ग.घ. ।

पटानाडी समाख्याताऽमिताभेन समाकुला ।
वज्रप्रभेण संयुक्ता देवीकोटेऽपि चक्षुषि ।। 9 ।।

लङ्केश्वरी भगानाडी मृद्वीति बुक्कवाहिनी ।
मालवे बाहुमूले तु वज्रदेहेन रञ्जिता ।। 10 ।।

[1]उद्धतानाडी द्रुमच्छाया हृद्वहा तु जिनेश्वरी ।
उपपीठैः(ठे) समाख्याता डाकिन्यो योगमातरः ।। 11 ।।

विमला चित्तचक्रेण शीलपारमिता परा ।
खेचरी समुदयज्ञानं नीलवज्रावलीवृता ।। 12 ।।

इति श्रीहेरुकाद्यवज्रवाराहीयोगराजोत्तमोत्तमपरमरहस्ये तृतीयो निर्देशः ।

•

1. छर्वाता-क.ख.ग.घ. गृहीतस्तु पाठः ज्ञानोदयतः ।

चतुर्थो निर्देशः

चक्षुर्वहा महानाडी अङ्कुरिकेन कामरौ ।
कक्ष ऐरावती ज्ञेया ओड्रे च कुचयुग्मके ।। 1 ।।

पित्तवहा महानाडी महाभैरविका स्मृता ।
वज्रजटिलशोभांगी क्षेत्र एवमुदाहृता ।। 2 ।।

प्रभाकरीति विख्याता निरोधक्षान्तिरेव च ।
नाभौ त्रिशकुनौ चैव वायुवेगा [1]प्रभा स्मृता ।। 3 ।।

महाभैरवयुक्ताङ्गी श्रीमती फुफ्फुसावहा ।
अन्त्रमलावहा घ्राणै(णे) सुराभक्षीति कौशले ।। 4 ।।

बला(हला)नाडी समाख्याता वज्रहूंकाररञ्जिता ।
उपक्षेत्रे समुद्दिष्टे डाकिन्यौ योगमातरौ ।। 5 ।।

वीर्यपारमिता मार्गज्ञानार्चिष्मत्युदाहृता ।
श्यामादेवी कलिंगे तु वक्त्रे सुभद्रभद्रिता ।। 6 ।।

महानाडीतिविख्याता गुणवर्तिवहा सदा ।
लम्पाके कण्ठदेशे तु सुभद्रा चोदले(रे) वहा ।। 7 ।।

वज्रप्रभेदेन भद्राङ्गी सौख्यनाडीत्युदाहृता ।
छन्दोहेषु च विख्यातौ(ते) डाकिन्यौ योगमातरौ ।। 8 ।।

अभिमुखी क्षयज्ञाने ध्यानपारमिता परा ।
काञ्चिपुर्य्यां हृदि स्थाने महाभैरवभूषिणी ।। 9 ।।

---

1. प्रभा शिला-क . ।

हयकर्णा घनानाडी परा पुरीषवाहिनी ।
हिमालये सिता नाडी मेढ्रे सीमान्तवाहिनी ।। 10 ।।

विरूपाक्षेण भूषाङ्गी योगिनीति खगानना ।
उपच्छन्दोह इत्युक्तौ(क्ते) डाकिन्यौ योगमातरौ ।। 11 ।।

वाक्चक्रेण समुद्भूता भूचर्यो दूतयः स्थिताः[1] ।
प्रज्ञापारमिता त्वनुत्पादज्ञानसुदुर्जया ।। 12 ।।

रक्तपद्मावली च्छन्दोमत्यालोलिकेन च ।
प्रेताधिवासिनी लिङ्गे महाबलेन शोभिता ।। 13 ।।

श्लेष्मवहा वडा(ला)नाडी चक्रवेगा जिनेश्वरी ।
खण्डरोहा गुदस्थाने गृहदेवता संस्थिता ।। 14 ।।

पूयवहा नटीनाडी रत्नवज्रेण संकुला ।
मेलापकेषु विख्यातौ(ते)योगिन्यौ योगमातरौ ।। 15 ।।

धर्मज्ञानोपायपारमिता दूरंगमाऽवनी ।
सौराष्ट्रे शौण्डिनी रक्तवहा स्फुटा शिला स्मृता ।। 16 ।।

योगिनी चोरुयुग्मे तु हयग्रीवानुगामिनी ।
स्वर्णद्वीपे लतानाडी जङ्घास्थे स्वेदवाहिनी ।। 17 ।।

नभोगर्भेण शोभाङ्गी डाकिनी चक्रवर्तिनी ।
उपमेलापके प्रोक्तौ(क्ते) डाकिनी(न्यौ) योगमातरौ ।। 18 ।।

अचलाख्याऽद्वये ज्ञानं प्रणिधिज्ञानं योगिनी ।
नगरे च बलानाडी सुवीरा मेदवाहिनी ।। 19 ।।

1. संस्थिताः–क.ग. ।

पादाङ्गुलीष्ववस्था वै श्रीहेरुकसमाकुला ।
सिन्धावश्रुवहा पद्मनृत्येश्वररूपिणी ॥ 20 ॥

पादपृष्ठे शठो(ठा)नाडी श्रीमती श्रीमहाबला ।
श्मशाने संस्थितावेतौ(ते चैते) डाकिन्यौ योगमातरौ ॥ 21 ॥

बलपारमिता साधुमती संवृतिरेव च ।
मरावङ्गुष्ठदेशे तु वैरोचनविराजिता ॥ 22 ॥

खेटवहा गणानाडी श्रीचक्रवर्तिनीश्वरी ।
कुलूता जानुदेशे तु वज्रसत्त्वोपशोभिता ॥ 23 ॥

समानाडी महावीर्या बालसिंघान(ण)वाहिनी ।
उपश्मशानसंस्थौ(स्थे) च डाकिन्यौ योगमातरौ ॥ 24 ॥

ज्ञानपारमिता धर्ममेघा प्रथितरूपिणी ।
सितपद्मावलीवृक्षा प्रणवाशनिनां वरा ॥ 25 ॥

कायचक्रे तु डाकिन्यो बाह्या पातालवासिनीः ।
देहमण्डलमेतत्तु पीठाद्या दशभूमयः ॥ 26 ॥

एताः स्वदेहजाः सर्वा भिद्यन्ते स्थानभेदतः ।
सबाह्याभ्यन्तरं स्थातुं बुद्धानां दशभूमयः ॥ 27 ॥

कायवाक्चित्तचक्रे तु चतुर्विंशतिभेदतः ।
स्थानानि सर्वनाडीनां समाख्यातानि सर्वतः ॥ 28 ॥

एषु स्थानेषु डाकिन्यो नाडीरूपेण संस्थिताः ॥ 29 ॥

इति श्रीहेरुकाद्यवज्रवाराहीयोगराजोत्तमोत्तमपरमरहस्ये चतुर्थो निर्देशः ।

•

पञ्चमो निर्देशः

काकास्या पूर्वदिग्भागे महानाडी मुखे तथा ।
दक्षिणघ्राणरन्ध्रे तु घोरा नाड्युलूकानना ॥ 1 ॥

गुडे(दे) त्वग्निवहा नाडी श्वानास्या सिद्धियोगिनी ।
वामनासापुटद्वारे तेज(जि)नीति शिला स्मृता ॥ 2 ॥

शूकरास्या चतुर्दिक्षु एता देव्यो व्यवस्थिताः ।
कृपाणधारिणी नाडी वामकर्णे व्यवस्थिता ॥ 3 ॥

यमदाती(ढी)ति विख्याता सव्यकर्णे व्यवस्थिता ।
यमदूतीति विख्याता चक्रीनाडी सुखावती ॥ 4 ॥

यमदंष्ट्रीति सव्याक्षे शुचि(सूची)मुखी शिला स्मृता ।
कुब्जी(क्षी) नाडी तु वामाक्षे श्रीयममथनी स्मृता ॥ 5 ॥

चतस्त्रश्च विदिक्ष्वेता योगिन्यो योगमातरः ।
इत्येता वज्रडाकिन्यो नाडीरूपेण संस्थिताः ॥ 6 ॥

चित्तवज्रस्य योगिन्यः सप्तत्रिंशदुदाहृताः ।
प्रज्ञापारमिता ह्येताः शरीरे संव्यवस्थिताः ॥ 7 ॥

सम्पूर्णमण्डलं तेषां भवत्येव न संशयः ।
तदेव मण्डमित्युक्तं वस्तूनां सारमुत्तमम् ॥ 8 ॥

तद् गृह्णाति लातीति शरीरं मण्डलं मतम् ।
सप्तत्रिंशन्महानाडीचक्रं हि मण्डलं [1]महत् ॥ 9 ॥

---

1. मतम्–व० ति० ।

बोधिचित्तं महारत्नं मण्डलं तत्त्वमण्डलम् ।
बाह्याभ्यन्तररूपेण व्याप्य विश्वं व्यवस्थितम् ।। 10 ।।

बाह्यं तु रूपशब्दादि षडिन्द्रियप्रवर्तनम् ।
अभ्यन्तरं तु शुक्ला(क्रा)दि सिद्धद्रव्यं व्यवस्थितम् ।। 11 ।।

सबाह्याभ्यन्तरेणैव बोधिचित्तेन वज्रिणाम् ।
स्थूलसूक्ष्मस्वरूपेण [1]जगद्दिक्षु(व्य) स्वरूपिणाम् ।। 12 ।।

बुद्धानां बोधिसत्त्वानां समयार्थोदितेन तु ।
जन्मनीहैव बुद्धत्वं प्राप्यते मण्डलादतः ।। 13 ।।

श्रावकाणां च बुद्धानां प्रत्येकानां तथैव च ।
ब्रह्मादीनां च देवानां निष्पत्तिर्मण्डलादतः ।। 14 ।।

एताश्चैव समाख्याता मुदिताद्यास्तु भूमयः ।
आलयो बोधिसत्त्वानामिन्द्रियादिस्वरूपिणाम् ।। 15 ।।

आलयः सर्वबुद्धानां स्कन्धादीनां विशेषतः ।
बुद्धानां बोधिसत्त्वानां बुद्धत्ववाहिकां पराम् ।। 16 ।।

द्वात्रिंशद्बोधिचित्तानां यदा यान्तीव(ह) पूर्णताम् ।
तदा [2]सम्यक्संबुद्धानां बुद्धत्वं निकटं भवेत् ।। 17 ।।

स्वदेहे चैव बुद्धत्वं स्थितं नान्यत्र कुत्रचित् ।
देहादन्यत्र बुद्धत्वमज्ञानेन वृतैर्मतम् ।। 18 ।।

इति श्रीहेरुकाद्यवज्रवाराहीयोगराजोत्तमोत्तमपरमरहस्ये पञ्चमो निर्देशः ।

•

1. जगद्बन्धु-व० ति० ।
2. ससुतबुद्धानां-व० ति० ।

षष्ठो निर्देशः

अथ योगवरं वक्ष्ये नाडीचक्रं यथाक्रमम् ।
द्वासप्ततिसहस्राणि नाडीदेहानुगा भवेत् ।। 1 ।।

नाडी(डि)का उपनाडीनां तेषां स्थाने समाश्रिताः ।
विंशोत्तरशतं नाम नाडीप्राधान्यमुच्यते ।। 2 ।।

नाडीस्थानञ्च पीठञ्च चतुर्विंशत्प्रमाणतः ।
तेषां मध्यस्थिता नाडी ललना मूत्रवाहिनी ।। 3 ।।

दक्षिणे रसनाख्याता नाडी रक्तप्रवाहिनी ।
संवृता मध्यभागेन हृत्सरोरुहमध्यगा ।। 4 ।।

कदलीपुष्पसंकाशा लम्बमाना त्वधोमुखी ।
तैल[1]वह्निशिखादीप्ता बोधिचित्तसमावहा ।। 5 ।।

सावधूतीति विज्ञेया सहजानन्ददायिका ।
चन्द्रसूर्यौ तु विख्यातौ पार्श्वे तु वामदक्षिणे ।। 6 ।।

कण्ठादारभ्य वामेन नाडी संभोगकायिका ।
नाभिमध्ये [च] विश्रान्ता अधोमुखी [2]महाबला ।। 7 ।।

नाभेरूर्ध्वं तु या नाडी वहत्यूर्ध्वमुखी तथा ।
कण्ठमध्ये तु विश्रान्ता रक्तवहा प्रकीर्तिता ।। 8 ।।

मदश्चन्द्र इति ख्यातो रक्तः सूर्य इति स्मृतः ।
द्वारद्वयसमारूढावध ऊर्ध्वसमाश्रितौ ।। 9 ।।

---

1. तैले वह्निरिवा–क. ।
2. मदावहा–व० ति० ।

एतौ हि चन्द्रसूर्यौ द्वौ नाडीद्वये प्रकीर्तितौ ।
वीराणां डाकिनीनां तु गत्यागतिनिबन्धनौ ।। 10 ।।

अस्तमनोदयार्थौ तु स्वप्नप्रबोधयोः स्थितौ ।
वामदक्षिणपार्श्वे तु स्वरा द्वादश संस्थिताः ।। 11 ।।

ऊर्ध्वमुखाः[1] समाख्याताः ककारादिभिरावृताः ।
अधोमुखैस्तु पार्श्वस्थैरधिकृत्य नियोजिताः ।। 12 ।।

क्षकाररक्षकः(क्षरकाः) प्रोक्ता ह्यधोभागे च [2]वै स्थिताः ।
यदा कण्ठे महारागरूपेण चन्द्रमाः स्थितः ।। 13 ।।

सम्भोगस्तु समाख्यातो बुद्धानां कायमुत्तमम् ।
नासाग्रे तु तदा चासौ वज्राग्रे तु यदा स्थितः ।। 14 ।।

अस्तंगतस्तु सम्भोगः कायोऽपि हि यदा भवेत् ।
भगमध्यगतश्चासौ सर्षप इति विश्रुतः ।। 15 ।।

सूर्यरूपः समाख्यातो निर्माणकाय उच्यते ।
बुद्धानां बोधिसत्त्वानां स्फरणं तेन जायते ।। 16 ।।

पद्मनर्तेश्वरो राजा पद्मप्रकाशयोगवान् ।
तस्मिन्नस्तंगते भानौ निर्माणकायरूपके ।। 17 ।।

[3]एतत्संबोधिचित्ताख्यं पिण्डीभूतमनाविलम् ।
संसारमार्गविच्छिन्नं प्रपञ्चोपशमं शिवम् ।। 18 ।।

---

1. मुखी-क. ।
2. वेष्ठितः-व० ति० ।
3. यत्तत्-क.ख.ग. ।

निर्द्वन्द्वं परमं शुद्धं श्रीवज्रसत्त्वस्वरूपकम् ।
स एव प्राणिनां प्राणं(णो) स एव परमाक्षरः ।। 19 ।।

सर्वव्यापी स एवासौ सर्वदेहे व्यवस्थितः ।
आलिकालिं समां कृत्वा रेखां तत्र नियोजयेत् ।। 20 ।।

संप्रज्वलितोर्ध्वरेखा त्वधः श्र(स्त्र)वति कारिणी ।
स्त्रवते शुक्ल(क्र)रूपेण अमृतबिन्दुरूपिणम् ।। 21 ।।

मन्थमन्थानयोगानां [1]ज्ञानरश्मिरिहकर्ममारुतेन प्रेरिता नाभिमण्डले प्रलीयते, ज्वलति, [2]वह्निभिः समयचक्रगतान्सुगतान् [3]दग्ध्वा दग्धानां तथागतानां सम्भोगचक्रगतमुपायं त्रिप्रदक्षिणीकृत्य ऊर्णाकोशगतेन मर्मोद्घाटनद्वारेण उड्डियानसंज्ञकेन निःसृत्य दशदिग्लोकधातुस्थितानां तथागतानां ज्ञानामृतान् गृहीत्वा शिखारन्ध्रगतेनैकद्वारेण जालन्धरसंज्ञकेन प्रविश्य दन्तसीमान्तर्गतेन रन्ध्रेण सम्भोगचक्रे विश्राम्य दग्धानां तथागतानामानन्दं जनयन्ती नाभिमण्डले स्थिरीभवति। अत्रापि निःक्रमति प्रविशति च ।। 22 ।।

बालाग्रशतसहस्त्रभागतयानन्तरं यथा विचरेत् ।
स्वाधिदैवतयोगेन सर्वमेव प्रकल्पयेत् ।। 23 ।।

अचिन्त्यं चिन्तयेत् सोऽपि चित्तं चैव न लक्षितम् ।
चिन्तयेत् सोऽपि चिन्त्यं वा ततः प्राप्स्यति धारिणीम् ।। 24 ।।

खट्वाङ्गं देवतामूर्त्तिः प्रज्ञा डमरुकाध्वनिः ।
दिनस्तु भगवान् वज्री डाकिनी रात्रिरुच्यते ।। 25 ।।

श्रीहेरुकस्य निर्माणं षष्टमं चित्तनिर्मितम् ।
सद्धर्मस्य च निर्माणं वाराहीत्युपदर्शितम् ।। 26 ।।

---

1. ज्ञानवह्नि-व० ति०. पृ० 87
2. दीप्तिभिः-व० ति० टी०, पृ० 87-88
3. दग्ध्वा-नास्ति मातृकासु, गृहीतस्तु व० ति० ।

श्रीकारमद्वयं ज्ञानं हे इति हेत्वादिवर्जितम्[1] ।
रुकारापगतव्यूहं क इति न क्वचित् स्थितः ।। 27 ।।

चित्तं विश्रम्यते योगी निर्वाणं नैव दर्शितम् ।
च्युतिकाले तु योगीनां श्रीहेरुकादिवीरयोगिनीः ।। 28 ।।

नानापुष्पकरव्यग्रा नानाध्वजपताकिनः ।
नानातूर्यविनिर्घोषैर्नानागीतोपहारताम् ।। 29 ।।

मृत्युर्नामविकल्पोऽयं नीयते खेचरीपदम् ।। 30 ।।

।। इत्यध्यात्ममण्डलभावनानाडीचक्रस्वरूपाख्यानयोगः ।।

इति श्रीहेरुकाद्यवज्रवाराहीयोगराजोत्तमोत्तमपरमरहस्ये नाडीज्ञानं षष्ठो निर्देशः ।

•

1. शून्यता-यो० सं० ।

सप्तमो निर्देशः

अथाध्यात्मविधिं वक्ष्ये होमकर्म यथोदितम् ।
अभ्यन्तरैस्तु शुक्ला(क्रा)द्यैर्बाह्यरूपादिभिस्तथा ।। 1।।

हविर्भिः क्रियते होमः प्रज्ञाग्नौ तु महोज्ज्वले ।
षडायतनधातूनां स्कन्धादीनां विशेषतः ।। 2।।

देवतारूपिणां तेषां डाकिनीनां तथैव च ।
योग(गः) पूजा समाख्याता तेन ते पूजिता यतः ।। 3।।

शिरःकपालमेतत्तु हविर्भाजनमुच्यते ।
श्रुवं तु रसना ख्याता हृच्चन्द्रो ललनात्मकः ।। 4।।

पात्रीति मुखमुद्दिष्टं कुण्डं च नाभिमण्डलम् ।
कर्ममारुतनिर्धूतो ब्रह्माग्निस्त्रि[1] कटिस्थितः ।। 5।।

नादस्तु मन्त्र इत्युक्तं जप आवर्तनं भवेत् ।
भावना प्रतिभाव(स)स्तु मण्डलाद्वययोगतः ।। 6।।

सहजानन्दरूपं तु जिनानां मण्डलादिकम् ।
आचार्यश्चित्तराजस्तु मण्डलाध्यक्षरूपतः ।
सर्वमत्रैव [2]बोद्धव्यं मण्डलादि यथोदितम् ।। 7।।

उक्तं च—

अग्निमुखा हि ते देवा होमतत्त्वे व्यवस्थिताः ।
होमेन देवाः प्रीयन्ते प्रीणनात्सिद्धिं ददन्ति ते ।। 8।।

---

1. त्रिकटे-व० ति० ।
2. मन्त्रद्रव्यमेवमादि-क.ख.ग.घ. ।

विना होमे(मं) न संसिद्धिः सर्वकर्मसु जायते ।
सर्वमन्त्रप्रसिद्ध्यर्थं होमकर्म समारभेत् ।। ९ ।।

।। इत्यभ्यन्तरहोमयोगः ।।

इति श्रीहेरुकाद्यवज्रवाराहीयोगराजोत्तमोत्तमपरमरहस्येऽभ्यन्तरहोमयोगो नाम सप्तमो निर्देशः ।



अष्टमो निर्देशः

पेच्छिअ ए सहित वमुणहि संभावणु मेलु ।
वम्मण कुक्कुरु चण्डालु एकु सहावे खद्दु ।। 1 ।।

स्वागदु धम्मु अणाधुरा अमला विगत ए ।
गाहागाह विवज्जिअ पणमत तत्त अए[1] ।। 2 ।।

[यश्च] नाज्ञाकरः शिष्यः स मूढो म्रियते क्षणात् ।
गरैर्द्रा(र्दा)रैर्विषै रोगैर्डाकिन्युपद्रवैस्तथा ।। 3 ।।

विघ्नैर्विनायकैर्घोरैर्मारितो नरकं व्रजेत् ।
तस्मात्सर्वप्रत्यत्नेन गुरुशिष्यकरैः शुभैः ।। 4 ।।

सिद्ध्यते न चिरान्मन्त्री गुरुपर्वक्रमेण च ।
गोपयेच्च सदा तत्त्वमभिधानोत्तरक्रमम् ।। 5 ।।

प्रणिधानवशं दृष्ट्वा हिताय करुणात्मकम् ।
दृष्ट्वा रसायनं यावच्चिन्तयेद् वायुमण्डलम् ।। 6 ।।

यंकाराक्षरसंभूतं धन्वाकारध्वजाङ्कितम् ।
नीलवर्णं च रक्षेतु(त्तु) धूम्रमालासमाकुलम् ।। 7 ।।

तस्योपरि च रंकारं तेजोमण्डलमुत्तमम् ।
त्रिकोणं रक्तवर्णं तु सूर्यकोटिरिवापरम् ।। 8 ।।

---

1. मूलमातृकायामधस्थः पाठो वर्तते—

काब्रह्मपदपेपेद्दे अस्वेहि अद्धमुमहि सभाहि ब्रह्मपदयेवनमेरु ।
ब्रह्मणकुकुर चण्डालु एकु सभावे खद्दु ।।
स्वार्गद्दुषर्मअनाधुरा अनलाय गत ए ।
भावाभावविवर्ज्जिअ प्रणमहु तत्त्व अयम् ।।

गृहीतपाठस्तु सम्पुटोद्भवतन्त्रस्याप्रकाशितपाण्डुलिपित उद्धृतः ।

तदूर्ध्वं वारुणं चैव वंकारोद्भवमुत्तमम् ।
तुषारसदृशं चैव वर्तुलं रश्मिमा(सा)रिणम् ।। 9 ।।

तदूर्ध्वं पृथिवीबिम्बं चतुःकोणे त्रिसूचिकम् ।
लंजातं चतुरस्त्रं तु पीतरश्म्याकुलाकुलम् ।। 10 ।।

तस्मादूर्ध्वं च संजातं सुमेरुपर्वतोत्तमम् ।
चतुरस्त्रं चतूरत्नमयं शृंगाष्टकैर्युतम् ।। 11 ।।

तस्योपरि समाक्रान्तं भ्रूंकारोद्भवशाश्वतम् ।
तत्परावृत्य तच्चक्रं कूटागारं विभावयेत् ।। 12 ।।

चतुरस्त्रं चतुर्द्वारं चतुस्तोरणभूषितम् ।
हारार्द्धहाररचितं पट्टस्त्रग्दाममण्डितम् ।। 13 ।।

कोणभागेषु सर्वेषु द्वारनिर्यूहसन्धिषु ।
खचितं वज्ररत्नैस्तु सूत्रयेद्वाह्यमण्डलम् ।। 14 ।।

तस्योपरि च हूंकारं विश्ववज्रं विभावयेत् ।
तदूर्ध्वं भावयेत् पद्मं कर्णिकाकेशरान्वितम् ।। 15 ।।

तन्मध्ये भावयेद्योगमालिकालि[वि]शुद्धितः ।
तस्य मध्ये तु हूंकारं वज्रसत्त्वस्वरूपकम् ।। 16 ।।

रविमण्डलमध्यस्थं श्रीहेरुकं विभावयेत् ।
द्विभुजमेकवक्त्रं तु त्रिनेत्रं विकृताननम् ।। 17 ।।

भैरवं कालरात्रिं च आलीढाक्रान्तमस्तकम् ।
षण्मुद्राविश्ववज्रं च अर्द्धचन्द्रोपशोभितम् ।। 18 ।।

अथवा कुण्डसंकाशं हूंकारोद्भवशाश्वतम् ।
वज्रघण्टासमापन्नं सहजं संवरं वरम् ।। 19 ।।

एकवक्त्रं त्रिनेत्रं च व्याघ्रचर्मनिवासनम् ।
कपालखट्वाङ्गधरं मुण्डमालाविभूषितम् ।। 20 ।।

वाराह्या तु समाश्लिष्टं वज्रोल्लालनतत्परम् ।
जंघाद्वयं समावेष्ट्य तद्वर्णभुजसंस्थितम् ।। 21 ।।

दिग्वाससं मुक्तकेशं कपालवज्रतर्जनी ।
खण्डमण्डितमेखलं जटामुकुटमण्डितम् ।। 22 ।।

तदग्रे वज्रवाराहीं रक्तवर्णां महोज्ज्वलाम् ।
कर्तिकपालिकां दिव्यां त्रिनेत्रां मुक्तकेशिनीम् ।। 23 ।।

पर्षदि म(मा)ण्डलेयाश्च द्विभुजा एकवक्त्रयोः(काः)।
पञ्चमुद्रासमायुक्तास्त्रिनेत्रा रौद्ररूपिणः ।। 24 ।।

प्रेतासनं [च] सर्वेषां भावयेद्भावनोत्तमम् ।
मध्ये हेरुकवज्रं तु नीलवर्णं महासुखम् ।। 25 ।।

पीतवर्णास्तु डाकिन्यो मध्ये पद्मनिभाननाः ।
चित्तचक्रस्य वीराश्च डाकिन्यश्च विशेषतः ।। 26 ।।

कृष्णवर्णो भवेद्वीरो डाकिन्याः सितमेव च ।
वाक्चक्रस्य भवेद् वीरो रक्तवर्णो महोज्ज्वलः ।। 27 ।।

डाकिन्याश्च(नीं च) शुभां कृष्णां भावयेच्च द्विवर्णिकाम् ।
कायचक्रस्य वीरश्च[1] चन्द्रगौरः सुशोभनः ।। 28 ।।

1. भवेद् वीरो-ख. ।

डाकिन्यस्तत्स्वरूपाश्च इच्छारूपं भविष्यति ।
काकास्याद्या हरिताः सर्वा यमदाढ्याद्याश्च धूम्रजाः ॥ 29 ॥

एवं वर्णविशेषेण भावयेद् ज्ञानमुत्तमम् ।
डाकिन्यः कपालखट्वाङ्गधरा डमरुनृत्यपदे स्थिताः ॥ 30 ॥

मुक्तकेशास्तु सर्वेषां दिग्वाससः सिताननाः ।
चित्तचक्रस्य वीराश्च वज्रघण्टाश्चालिङ्गिताः ॥ 31 ॥

योगिन्यः कपालं वज्रं च तर्जन्या सह एव च ।
वाक्चक्रस्य वीराणां पद्मघण्टाविभूषिताः ॥ 32 ॥

योगिन्यः कपालपद्मानि तर्जन्या सह एव च ।
कायचक्रस्य वीराणां चक्रघण्टाकरोज्ज्वलाः ॥ 33 ॥

योगिन्याश्चक्रं तर्जन्या कपाला मज्जपूरिताः ।
काकास्यादि तु देवीनां खट्वाङ्गकर्तिका तर्जन्या सह ॥ 34 ॥

यमदाढ्यादिदेवीनां डमरुमुण्डतर्जनी ।
कपालमालामकुटा अर्द्धपर्यङ्कनृत्यकाः ॥ 35 ॥

वीराणां पदालीढपदस्था डाकिन्या जानुवेष्टितान् ।
अद्वययोगसमापन्नान् करुणारागसत्सुखान् ॥ 36 ॥

ज्ञानचक्रसमायुक्तानेकलोलीसुखोत्सुकान् ।
धर्मैकरससंभूतान् कायवाक्चित्तमुत्तमान् ॥ 37 ॥

एवं ध्यात्वा जपेद्योगी चतुःसन्ध्यं प्रयत्नतः ।
एतज्ज्ञानं सदा योगी एकाग्रशुद्धमानसः ॥ 38 ॥

जपेत्समययोगेन चतुःसन्ध्यं विधानतः ।
स्फरणाद्रोमकूपाग्रैर्धर्मसम्भोगमेव च ॥ 39 ॥

धर्मचक्रं प्रदर्शित्वा सत्त्वानुग्रहहेतुना ।
अनुत्तरपदे स्थाप्य षड्गतेर्मोचनाय च ॥ 40 ॥

यथायोगरुचेन्मन्त्री कुलपञ्चकमध्यगः ।
त्रिकुलाख्येषु यन्मध्यादत्र वाधिपतित्वकम् ।
सर्वबुद्धसमाजस्य कायवाक्चित्तभेदकम् ॥ 41 ॥

॥ इत्यादिकर्मिकयोगविधिः ॥

इति श्रीहेरुकाद्यवज्रवाराहीयोगराजोत्तमोत्तमपरमरहस्ये अष्टमो निर्देशः ।

•

नवमो निर्देशः

अथान्यत्संप्रवक्ष्यामि मण्डलं समयोत्तमम् ।
न तिथिर्न च नक्षत्रं नोपवासो विधीयते ।। 1 ।।

न शुचिर्नाप्यशुचिर्वा न शौचं नोदकक्रिया ।
कालवेलाविनिर्मुक्तः शौचाचारविवर्जितः ।। 2 ।।

स्वतन्त्रमन्त्रयोगज्ञः सर्वसत्त्वार्थतत्परः ।
गिरिगह्वरकुञ्जेषु नदीतीरे सुसंगमे ।। 3 ।।

महोदधितटे रम्ये एकवृक्षे शिवालये ।
मातृगृहे श्मशाने वा उद्याने विविधोत्तमे ।। 4 ।।

विहारचैत्यायतने गृहे वाथ चतुःपथे ।
साधयेत् साधको योगं सर्वकामफलप्रदम् ।। 5 ।।

भूमेरालेपनं कुर्यात् पश्चाद् ज्ञानामृतेन तु ।
क्षान्तिपारमितापुष्पप्रकरं दातव्यं यत्नतः ।। 6 ।।

विश्वमुद्रासने रम्ये विस्तरे सुसमाहितः ।
ध्यानपारमितां लभ्य एकाग्रेण तु चेतसा ।। 7 ।।

चतुर्ब्रह्मविहारेण चतुःसंग्रहणं कुरु ।
कुशलैर्दशभिरालंब्य सर्वसत्त्वहितं दद ।। 8 ।।

बाह्यमाध्यात्मिकं पश्येत् सर्वधर्मशून्यताम् ।
चित्तमात्रं तु वै तिष्ठेद्बोधिसम्भारमुत्तमम् ।। 9 ।।

हृदि धात्वब्जमध्यस्थं भावयेत्सूर्यमण्डलम् ।
तं दृष्ट्वा परमं तत्त्वं पञ्चज्ञानमयं शिवम् ।। 10 ।।

नानारश्मिमयं दिव्यं विस्फुरन्तं समन्ततः ।
पूर्वसिद्धांश्च संचोद्य अधिष्ठानं च कारयेत् ।। 11 ।।

खधातुभवने रम्ये दृष्ट्वा मण्डलमुत्तमम् ।
तिलबिम्बोपमं दृष्ट्वा क्रोधदेवीः समन्ततः ।। 12 ।।

बुद्धांश्च बोधिसत्त्वांश्च बोधिचित्तगुरुं प्रभुम् ।
दृष्ट्वा च नवधा देवीं पूजयेत्पूज्यनायकम् ।। 13 ।।

स्फुरेद्बुद्धौघनिर्माणं क्रोधराजं तु योगिनीम् ।
षड्गतेः सर्वसत्त्वांश्च बुद्धत्वं स्थापयेत्सताम् ।। 14 ।।

दृष्ट्वा प्रतिस्था(ष्ठां) तत्रैव खधात्वाख्येषु मध्यतः ।
सर्वं त्रिशरणं गच्छेद् यावदाबोधिमण्डलम् ।। 15 ।।

तत्र स्थाप्या वज्रदेव्यः सर्वसत्त्वा भवन्ति च ।
अध्येष्य साधकस्तत्र त्रिशरणं गच्छेन्नित्यशः ।। 16 ।।

पञ्चस्कन्धाद्यहंकारचित्तमुत्पादयेच्छुभम् ।
रूपे वैरोचनो ज्ञेयो वेदना वज्रसूर्ययोः ।। 17 ।।

पद्मनृत्येश्वरं संज्ञा संस्कारे वज्रराजयोः ।
विज्ञाने वज्रसत्त्वं तु व्यापके हेरुकोत्तमः ।। 18 ।।

तेषां बीजाक्षरं ॐ भ्रूँ आं जिं हुँ ह्रींः[1] इति स्मृतम् ।
चक्षुषोर्मोहवज्री स्याच्छ्रोत्रयोर्द्वेषवज्रिणी ।। 19 ।।

---

1. सर्वत्र–हूँ ह्रींः इत्यधिकः पाठः ।

ईर्ष्यावज्रीति घ्राणायां रागवज्री मुखे तथा ।
स्पर्शे मात्सर्यवज्र्यायतनेष्वैश्वर्यवज्रिणी ।। 20 ।।

तासां बीजाक्षरं ऊँ हूं त्रां आँ खँ हाँ इति स्मृतम् ।
पृथिव्यापस्तथा तेजोवायुराकाशमेव च ।
लां मां पां तां खामिति ।। 21 ।।

पातनी मारणी चैवाकर्षणी चैव नर्तनी ।
श्रीपद्मज्वालनी देवी खसमा गगनोपमा ।। 22 ।।

एवं स्कन्धधात्वायतनेषु योगी प्राकृत्य वञ्चनात्। ॐ प्रकृतिपरिशुद्धाः सर्वधर्माः प्रकृतिपरिशुद्धोऽहमिति शुद्धिं कारयेत् ।। 23 ।।

अहं च हेरुको भूत्वा सर्वसत्त्वार्थकारणात् ।
स्थापयामि ततः सर्वान् हेरुकं पदमाप्नुयात् ।। 24 ।।

ॐ स्वभावशुद्धाः सर्वधर्माः स्वभावशुद्धोऽहमित्युच्चारयेत्।

स्थापयेद्गभस्तिमालां वा भवाग्रा दिशो दर्शताम् ।
गभस्तिं तु ततो दृष्ट्वा प्राकारं पञ्जरं तथा ।। 25 ।।

वज्रभूमावधिष्ठं तु वितानं शरजालयोः ।
वज्राग्निज्वालं प्राकारे तद्बाह्ये दूरतो न्यसेत् ।। 26 ।।

ॐ मेदिनी वज्रीभव वज्रबन्ध हूं। ॐ वज्रप्राकार हूं वं हूं । ॐ वज्रपञ्जर हूं पं हूं। ॐ वज्रवितान हूं खं हूं । ॐ वज्रशरजाल त्रां सं त्रां। ॐ वज्रज्वालानलार्क हूं।। 27 ।।

हेरुकज्ञानचक्रं तु ततो दृष्ट्वारं सुप्रभम् ।
सूर्यमण्डलमध्यस्थं वज्रसत्त्वं विभावयेत् ।। 28 ।।

त्रिमुखं षड्भुजं शान्तं शुद्धस्फटिकेन्दुसुप्रभम् ।
महामुद्रासमापन्नं प्रज्ञापर्यन्तसुस्थितम् ।। 29 ।।

कपालमालामकुटमक्षोभ्यकृतशेखरम् ।
सर्वालङ्कारसम्पूर्णं सर्वलक्षणलक्षितम् ।। 30 ।।

द्वात्रिंशल्लक्षणैर्युक्तं व्यञ्जनैः समलङ्कृतम् ।
कपालखट्वाङ्गधरं तद्घण्टावज्रालिङ्गितम् ।। 31 ।।

पाशाङ्कुशधरं वीरं महासुखपदे स्थितम् ।
सितपीतं च हरितमुभयोर्विकृताननम् ।। 32 ।।

क्रोधाष्टकं तत्र स्फार्य अनुलोमविलोमतः ।
वज्रचण्डं च अर्कं च वज्रोष्णीषं तथैव च ।। 33 ।।

कुण्डलीवज्रयक्षं च वज्राकारं महाबलम् ।
श्रीवज्रभीषकं नाम एतान् क्रोधाष्टकान् न्यसेत् ।। 34 ।।

नीलपीतं तथा रक्तं हरितं धूम्रधूसरम् ।
सितकृष्णारुणान् भीमान् दंष्ट्रोत्कटभीषणान् ।। 35 ।।

त्रिमुखान् षड्भुजान् सर्वान्नरास्था(स्थ्या)भरणोज्ज्वलान् ।
आलीढपदमासीनान् विश्वाब्जसूर्यमध्यगान् ।। 36 ।।

अष्टौ च लोकपालांश्च पादाक्रान्तान् विचिन्तयेत् ।
कपालखट्वाङ्गधरान् पाशाङ्कुशधरान् परान् ।। 37 ।।

घण्टाडमरुकान् सर्वान् प्रज्ञालिङ्गितसंमुखान् ।
पिङ्गोर्ध्वकेशविकृतान् सदंष्ट्रोत्कटभीषणान् ।। 38 ।।

व्याघ्रचर्माम्बरधरान् त्रिनेत्रांश्चातिभीषणान् ।
अध ऊर्ध्वगतं वीरं क्रोधद्वयं विभावयेत् ।। 39 ।।

ऊष्णीषवज्रपातालं सितनीलाञ्जनप्रभम् ।
कपालखट्वाङ्गधरं वज्रशूलकरं परम् ।। 40 ।।

पाशाङ्कुशवज्रघण्टामालीढासनसंस्थितम् ।
तत्परावृतमात्मानं वज्रहूंकारं विभावयेत् ।। 41 ।।

क्रुद्धज्वालाकुलं रौद्रं विकटोत्कटभीषणम् ।
सर्वाभरणसुसंच्छन्नमालीढासनसंस्थितम् ।। 42 ।।

अङ्कुशपाशखट्वाङ्गघण्टावज्रकपालयोः ।
मुण्डस्रग्दामदेहोग्रं मुण्डबद्धोग्रशेखरम् ।। 43 ।।

सर्वदुष्टपदाक्रान्तं प्रज्ञापारसमन्वितम् ।
वज्रसत्त्वं तु मकुटं भावयेद् वज्रभैरवम् ।। 44 ।।

कीलकान् वीरक्रोधांश्च स्फरेत्तत्र दिशो दश ।
आज्ञां दत्त्वा तु तत्रैव निर्विघ्नान् कुरुते गुरुः ।। 45 ।।

मन्त्रमेवमनुस्मृत्य चतुर्दिक्षु समन्ततः ।
तर्जन्यङ्गुष्ठतो योज्य च्छोटिका चतुर्दिशि दश ।। 46 ।।

ॐ सुम्भ निसुम्भ हूं हूं फट्। ॐ गृह्ण 2 हूं हूं फट्। ॐ गृह्णापय 2 हूं हूं फट्। ॐ आनय हो भगवन् विद्याराजो हूं हूं फट्। अनेन मन्त्रराजेन सर्वक्रोधानामष्टकीलकं न्यसेत्।। 47 ।।

ॐ घघ घाटय 2 सर्वविघ्नान् हूं फट्। ॐ कीलय 2 सर्वपापान् हूं फट्। हूं 3 वज्रकीलय वज्रधर आज्ञापयति सर्वदुष्टविघ्नानां कायवाक्चित्तवज्रान् कीलय हूं फट्। ॐ वज्रमङ्गलवज्रकीलमाकोटयाकोटय हूँ फट्।। 48 ।।

आकोट्य वज्रकीलेन क्रोधदृष्टिनिरीक्षणात् ।
अनुलोमविलोमेन आकोट्य वज्रसिद्धय(द्ध)धीः ।। 49 ।।

ॐ ख वज्रधृक् वज्रहूंकार हूं फट्। ॐ वज्रेऽण्डवज्रेऽण्डवरे हूं फट्। ॐ वज्रचण्ड वज्र हूं फट्। ॐ वज्रानलार्क वज्र हूं फट्। ॐ वज्र उष्णीष वज्र हूं फट्। ॐ वज्रकुण्डली वज्र हूं फट्। ॐ वज्रयक्ष वज्र हूं फट्। ॐ वज्रकाल वज्र हूं फट्। ॐ वज्रमहाबल वज्र हूं फट्। ॐ वज्र हूं फट्। ॐ वज्रभीषण वज्र हूं फट्। ॐ वज्र उष्णीष वज्र हूं फट्। ॐ वज्रपाताल वज्र हूं फट्।। 50 ।।

एवं सिद्धयत्याज्ञा चैव निर्विघ्नं भवते क्षणात् ।
निर्विघ्नं सकलं दृष्ट्वा यत्र तिष्ठन्ति योगिनः ।। 51 ।।

नग्नो वा यदि वाऽनग्नो भस्माङ्गो मुक्तकेशकः ।
अक्रोधनः शुचिर्दक्षो योगज्ञो योगपारगः ।। 52 ।।

अस्थिमालावलम्बी च खट्वाङ्गकरसंस्थितः ।
आत्मानं हेरुकं कृत्वा हेरुकं च ततः स्मरेत् ।। 53 ।।

एवं भावयेज्जपेच्चक्रं यदि खेदः प्रजायते ।
यं रं वं लं च सुं भ्रूं पं हूं चन्द्रार्कमण्डले ।। 54 ।।

तयोर्मध्ये स्थितं बीजं हूंकारं स्फरणात्मकम् ।
आधाराधेयमारूढं श्रीचक्रसंवरं वरम् ।। 55 ।।

भगवन्तं चतुर्वक्त्रं भयस्यापि भयंकरम् ।
मूलमुखं महाकृष्णं दक्षिणे काञ्चनोपमम् ।। 56 ।।

श्यामं वामेऽरुणं पृष्ठे त्रिनेत्रं रक्तवर्तुलम् ।
शुष्कमुण्डेन्दुसंच्छन्नं जटामकुटमण्डितम् ।। 57 ।।

द्वादशभुजमासक्तं वज्रघण्टासमाश्रितम् ।
सर्वनागाजिनं चैव डमरुकर्तिपर्शुकम् ।। 58 ।।

त्रिशूलं षष्टमं चैव वामे नागाजिनं तथा ।
खट्वाङ्गपात्रपाशं च ब्रह्ममुण्डं च षष्टमे ।। 59 ।।

शतार्द्धमुण्डस्त्रग्दामव्याघ्रचर्माम्बरोत्तमम् ।
शृङ्गारादिरसैर्युक्तं षण्मुद्रादेहभूषितम् ।। 60 ।।

भैरवं कालरात्रिं च आक्रान्तस्तनमस्तकम् ।
आलीढपदमासीनं आत्मानं हेरुकं परम् ।। 61 ।।

वाराहीं रक्तवर्णाङ्गीं मुक्तकेशां दिगम्बराम् ।
त्रिनेत्रामेकवक्त्रां च खण्डमण्डितमेखलाम् ।। 62 ।।

वामे कपालं बिभ्राणां दक्षिणे वज्रकर्तिकाम् ।
जङ्घाद्वयं समावेष्ट्य शृङ्गाररसविह्वलाम् ।। 63 ।।

षण्मुद्रादेहालङ्कारां भगवतीं विभावयेत् ।
डाकिनीं तु तथा लामां खण्डरोहां तु रूपिणीम् ।। 64 ।।

नीलां श्यामां तथा रक्तां पीतां चैव चतुर्थिकाम् ।
वामे कपालखट्वाङ्गं सव्ये डमरुकर्तिकाम् ।। 65 ।।

दंष्ट्राकरालवदनां त्रिनेत्रां मुक्तकेशिनीम् ।
पञ्चमुद्राविभूषाङ्गीमालीढासनसंस्थिताम् ।। 66 ।।

दिग्दलेषु महायोगी भावयेद्योगमातरम् ।
विदिक्षु कलशांश्चैव पञ्चामृतप्रपूरितान् ।। 67 ।।

कपालक्षीरसम्पूर्णान् कलशोपरि संस्थितान् ।
तद्बहिश्चित्तचक्रं वै नीलं वज्रावलीवृतम् ।। 68 ।।

अष्टारं तस्य पूर्वारे खण्डकपालिनं प्रभुम् ।
पुल्लीरमलये चैव प्रचण्डां चण्डविक्रमाम् ।। 69 ।।

जालन्धरे महाकङ्कालं चण्डाक्षीं [च] धनाधिपे ।
ओडियाने तु कङ्कालं प्रभावतीं प्रचेतसि ।। 70 ।।

विकटदंष्ट्रिणं याम्ये च महानासां तथार्बुदे ।
गोदावर्यां सुरावैरिणमग्नौ श्रीप्रभावतीम् ।। 71 ।।

रामेश्वरेऽमिताभं चैव खर्वरीं यातुधानके ।
देवीकोटे तथा वायौ वज्रप्रभं लङ्केश्वरीम् ।। 72 ।।

वज्रदेहं द्रुमच्छायामैशान्यां मालवे तथा ।
रक्ताष्टारं च वाक्चक्रं रक्तपद्मावलीवृतम् ।। 73 ।।

पूर्वारे कामरूपेऽङ्कुरिकमैरावतीं तथा ।
श्रीमहाभैरवीमोड्रे वज्रजटिलमुत्तरे ।। 74 ।।

वायुवेगा महाभैरवं पश्चिमे त्रिशकुनौ तथा ।
कोशलायां सुराभक्षिं वज्रहूंकारमस्तके ।। 75 ।।

श्यामादेवीं कलिङ्गे तु सुभद्रं चक्रवर्मणीम् ।
वज्रप्रभं तु लंपाके सुभद्रां यातुधानके ।। 76 ।।

काञ्चीपुर्यां हयकर्णां महाभैरवमाशुगे ।
हिमालये विरूपाक्षं पिनाकिनीं (नं) खगाननाम् ।। 77 ।।

कायचक्रं सिताष्टारं सितपद्मावलीवृतम् ।
पूर्वारे प्रेतपुर्यां वै चक्रवेगां महाबलम् ॥ 78 ॥

रत्नवज्रखण्डरोहामुत्तरे गृहदेवता ।
सौराष्ट्रे शौण्डिनीं चैव हयग्रीवं प्रचेतसि ॥ 79 ॥

स्वर्णद्वीपाकाशगर्भं दक्षिणे चक्रवर्मिणी ।
वह्नौ श्रीहेरुकं वीरं सुवीरां नगरे तथा ॥ 80 ॥

पद्मनृत्येश्वरं सिन्धौ यातुधाने महाबलम् ।
कुलतायां महावीर्या वज्रसत्त्वपिनाकिनी ॥ 81 ॥

खण्डकपालिकावीरानेकवक्त्रांश्चतुर्भुजान् ।
वह्निनेत्राञ्जटाजूटान् पञ्चमुद्राविभूषितान् ॥ 82 ॥

वज्रघण्टासमापन्नानालीढासनसंस्थितान् ।
सव्ये डमरुकान् सर्वान् वामे खट्वाङ्गसंकुलान् ॥ 83 ॥

एकवक्त्रा प्रचण्डाद्या वह्निनेत्रा दिगम्बराः ।
वामे कपालखट्वाङ्गौ दक्षिणे वज्रकर्तिका ॥ 84 ॥

पञ्चमुद्राविभूषाङ्गी मुक्तकेशातिरौद्रिणी ।
एवं त्रिचक्रभेदेन भावयेत् साधकः सदा ॥ 85 ॥

काकास्यामुलूकास्यां तु श्वानास्यां शूकराननाम् ।
कृष्णां श्यामां तथा रक्तां पीतां द्वारेषु संस्थिताम् ॥ 86 ॥

कोणेषु यमदाढीं च कृष्णपीतभयानकाम् ।
यमदूतीं पीतरक्तां यमदंष्ट्रीं रक्तश्यामाम् ॥ 87 ॥

श्रीयममथनीं श्यामकृष्णां च विश्वरूपिणीम् ।
एता योगिनीरेकास्याः प्रत्यालीढशवासनाः ।। 88 ।।

चतुर्भुजा महाभीमाः पञ्चमुद्राविभूषिताः ।
वामे कपालखट्वाङ्गौ सव्ये डमरुकर्तिकाम् ।। 89 ।।

(अष्टश्मशानानि)

त्रिनेत्रा रौद्ररूपाश्च मुण्डस्त्रग्दामभूषिणीः ।
चण्डोग्रं गह्वरं चैव ज्वालाकुलं तथैव च ।। 90 ।।

कलं(रं)कभैरवं तत्र पूर्वादिक्रमविन्यसेत् ।
अट्टहासं च रौद्रे च लक्ष्मीवनं हुताशने ।। 91 ।।

घोरान्धकारं महाभीमे नागे किलिकिलारवम् ।
एवं चैत्या महानामा अष्टौ च योगिनीरिति ।। 92 ।।

विरूपाद्यष्टसिद्धानां नागाष्टश्मशानवासिनीः ।
भैरवादींश्च मातृश्च एतेऽष्टश्मशानादयः ।। 93 ।।

इति श्रीहेरुकाद्यवज्रवाराहीयोगराजोत्तमोत्तमपरमरहस्ये नवमो निर्देशः ।

•

दशमो निर्देशः

अथापरं प्रवक्ष्येऽहं योगिनीं सांध्यवन्धि(न्दि)नीम् ।
अनुदया च या सन्ध्या काले प्रश्ने विवर्जिता ॥ 1 ॥

संधिनी सर्वभूतानां सा मध्यामिव साधनी ।
हेरुकस्य समापन्नां जपेद्ध्यायेच्च योगिनीम् ॥ 2 ॥

झटित्याकारजां पश्येत् शङ्खकुन्देन्दुवर्णकाम् ।
सर्वालङ्कारसम्पूर्णां सर्वलक्षणसमन्विताम् ॥ 3 ॥

त्रिमुखां षड्भुजां सौम्यां त्रिनेत्रां करुणारसाम् ।
मुक्तकेशां कपालैकं ललाटे चन्द्रशेखरम् ॥ 4 ॥

हेरुकस्य समापन्नां सन्ध्याकालोत्तमोत्तमाम् ।
चतुःसन्ध्यामनुष्ठाय चतुरानन्दनन्दनः ॥ 5 ॥

नाभिहृत्पद्ममध्ये जिह्वामूले शिरोपरि ।
आनन्दं परमं चैव विरमं सहजं तथा ॥ 6 ॥

चतुःषष्टिदलमेकं द्वितीयमष्टदलोत्तमम् ।
तृतीयं षोडशदलं चतुर्थं द्वात्रिंशद्दलम् ॥ 7 ॥

वाराहीं नाभिमूलस्थां सहजं हेरुकोत्तमम् ।
चतुरार्यसत्यतां भाव्य संध्याकालेषु योगिनी ॥ 8 ॥

दुःखं निर्माणचक्रं तु समुदयं धर्मचक्रयोः ।
निरोधं सम्भोगचक्रे मार्गञ्चैव महासुखम् ॥ 9 ॥

एवं संध्यामनुष्ठानं कृतयोगं सुनिश्चितम् ।
सितनीलं हरितं त्रिनेत्रं करुणाशून्यताम् ॥ 10 ॥

त्रिविमोक्षां त्रिकायां च युगपच्छुद्ध्यते क्षणात् ।
वज्रघण्टासमापन्नां कपालखट्वाङ्गधारिणीम् ॥ 11 ॥

मुण्डकर्तिकरधरां पञ्चमुद्राविभूषिताम् ।
सत्त्वपर्यङ्कमासीनां चन्द्रोपेताब्जमध्यगाम् ॥ 12 ॥

मुक्तकेशां च दिग्वासां सुरतातुरविह्वलाम् ।
संध्याकाले सदा ध्यायात् सिद्ध्यन्ते संवरोत्तमाम् ॥ 13 ॥

विड्वज्रोदकरत्लेशामिताभामोघसिद्धिषु ।
एतन्मिश्रं सदा संध्यं वन्दयेद् योगिनीः सदा ॥ 14 ॥

इमं मन्त्रं च सततं गायत्रीं हेरुकोत्तमाम् ॥ 15 ॥

ॐ श्रीहेरुकाय विद्महे विद्याराजाय धीमहि
तन्नो धीरः प्रचोदयात् आः हूं ॥ 16 ॥

तूष्णीं भावेन सततं जपेद्गायत्रीमुत्तमाम् ।
गायत्रीसर्वसिद्धीनां सर्वकर्मकरी सदा ॥
अकालमृत्युप्रशमनी [सर्वदाऽऽनन्द]वर्द्धिनी ॥ 17 ॥

भूतान् भविष्यानथ वर्तमानान् कथेच्च मन्त्री सततं सदा समम् ।
इति प्रसिद्धं प्रविशिष्यते यतः सहस्रमेकेन महतीं सिद्धिसाधनीम् ॥ 18 ॥

भावनां साधकेन्द्रस्य विधिं ज्ञात्वा त्रिलोचनम् ।
हेरुकस्य व्रतस्थस्तु दिव्यकायस्तु जायते ॥ 19 ॥

दिव्यश्च श्रीसम्पन्नोऽसौ दिव्यकायं च वा परम् ।
सर्ववाङ्मयवेत्ता तु जरामृत्युविवर्जितः ।। 20 ।।

बुद्धवत्सेव्यते देवैर्बुद्धवत् क्रीडते भुवि ।
मुद्रासार्द्धं चरेद्भूतदिनानि त्रयमेव च ।। 21 ।।

दृष्ट्वा तु भगिनीं साधकः पूजयेच्च त्रिरात्रिकम् ।
ततो वज्री श्रीहेरुको देव्या सार्द्धमागच्छति ।।
तस्य त्र्याचमनं दत्त्वा जानुभिर्धरणीं गतः ।। 22 ।।

प्रणिपत्य ततः कृत्वा[1] पूजयेत्साधकः सदा ।
प्रहृष्टस्तत्क्षणाद्वीरः सर्वज्ञः सर्वकृत् प्रभुः ।। 23 ।।

सर्वत्रैलोक्यचारी च भगवन्तं साधकोत्तमः ।
एष वीरो महावीरः सर्वद्वन्द्वविवर्जितः ।। 24 ।।

येन विज्ञातमात्रेण पृथ्वी सागरमेखला ।
वशमायान्ति ते क्षिप्रं सदेवासुरमानुषाः ।। 25 ।।

इति श्रीहेरुकाद्यवज्रवाराहीयोगराजोत्तमोत्तमपरमरहस्ये दशमो निर्देशः ।।

।। समाप्तं शुभम् ।।

●

1. कामयेत्-क. ।

རྩོམ་གྱི་ངོ་སྤྲོད་མདོར་བསྡུས།

བཅོམ་ལྡན་འདས་ཀྱི་བསྟོད་པ། ༡ - ༤

བསྐལ་པ་བཟང་པོའི་རྟོགས་བརྗོད་ཅེས་པའི་གཞུང་ནང་ལྷ་རྣམས་ཀྱིས་སངས་རྒྱས་བཅོམ་ལྡན་འདས་ལ་བསྟོད་པ་མཛད་པ་རྣམས་བསྟན་ཡོད། དེ་དག་ལས་བསྟོད་པ་ཁག་དྲུག་ནི་གཞན་དུ་པར་བསྐྲུན་ཞུས་ཟིན་འདུག འདིར་བསྟོད་པ་ཁག་གཉིས་པར་སྐྲུན་ཞུས་པ་ལས་སྔ་མ་ལྷ་རྗེ་ཐ་སྐར་གྱི་བུ(ཨཱཪྻཱ ཀུམཱར)དག་གིས་མཛད་པའི་བསྟོད་པ་དང་། བསྟོད་པ་ཕྱི་མ་ནི་སློབ་དཔོན་ནགས་ཀྱི་རིན་ཆེན་གྱིས་མཛད་པའི་མི་གཡོ་བའི་བསྟོད་པ་ཡིན། སློབ་དཔོན་འདི་ནི་ནང་པའི་ངག་གི་རང་བཞིན་གྱི་དཔལ་རྒྱས་པར་བྱེད་པའི་ཆེ་མཐོང་གི་གནས་ཐོབ་པ་ཞིག་ཡིན།

ཆེས་དཀོན་པའི་དཔེ་དེབ་ཁག་གི་ངོ་སྤྲོད། ༥ - ༡༦

དུས་རབ་འདོན་ཐེངས་འདིའི་ནང་གཞམ་གསལ་རྟོགས་བརྗོད་བསྡུས་པ་ཁག་ལྔའི་ངོ་སྤྲོད་ཞུས་ཡོད།

༡། རྟོགས་བརྗོད་ཕྱོགས་བདུས།

༢། རྟོགས་བརྗོད་ཀྱི་ཕྲེང་བ།

༣། བསྐལ་པ་བཟང་པོའི་རྟོགས་བརྗོད།

༤། རྟོགས་བརྗོད་རིན་ཆེན་ཕྲེང་བ།

༥། ཀླུ་ངན་མེད་ཀྱི་རྟོགས་པ་བརྗོད་པའི་ཕྲེང་བ།

ནང་པའི་སྒྲུབ་ཐབས་ནང་གི་ཏིང་ངེ་འཛིན། ༡༧ - ༣༤

ནང་པའི་གཞུང་གི་ཁྱད་ཆོས་ལ། དེར་ཡང་དག་པའི་རྟོགས་པ་(ཧླྭཁཥྲཏུཡ) ཏིང་ངེ་འཛིན་རྣམས་ཀྱི་མཚན་མི་འདྲ་བ་ཁག་ཀྱང་བསྟན་ཡོད། གང་གིས་ཏིང་ངེ་འཛིན་གང་བསྒོམས་པ་དང་། དེ་ལས་འབྲས་བུ་གང་ཐོབ་པ་བཅས་གསང་བ་འདུས་པའི་རྒྱུད་ལས་འདིར་དཔེ

མཚོན་གྱི་ཚུལ་དུ་བསྟན་ཡོད། དེ་བཞིན་དུ་གཞུང་གཞན་དང་སྒྲུབ་ཐབས་གཞན་རྣམས་ལས་ཀྱང་རྙེད་ཐུབ།

ནང་པའི་རྒྱུད་གཞུང་གི་ངོ་སྤྲོད། ༢༥ - ༣༣
(རྡོ་རྗེ་འཇིགས་བྱེད།)

ནང་པའི་རྒྱུད་གཞུང་གི་ངོ་སྤྲོད་ལས་གཤིན་རྗེ་ནག་པོའི་རྒྱུད་ཀྱི་འགྲེལ་བརྗོད་(ཀླུ༔ ༣༧, ཤོག་གྲངས་ ༣༩-༦༠)ཀྱི་སྐབས་སུ་གཤིན་རྗེ་དང་། གཤིན་རྗེ་གཤེད་དང་། འཇིགས་བྱེད་སྐོར་གྱི་རྒྱུད་ཀྱི་རིམ་པའི་ནང་བསྟན་ཡོད་ཅིང་། དེའི་ནང་གཤིན་རྗེ་དང་གཤིན་རྗེ་གཤེད་དང་འབྲེལ་བའི་གཞུང་གི་ངོ་སྤྲོད་ཞུས་ཟིན་པ་དང་། ད་ལན་རིམ་པ་དེ་དག་ལས་རྡོ་རྗེ་འཇིགས་བྱེད་ཀྱི་རྒྱུད་དང་འབྲེལ་བའི་གཞུང་གི་བསྐྱར་ཞིབ་འདིར་ཞུས་ཡོད།

བླ་མེད་རྒྱུད་ཀྱི་སྡེ་ཚན་ཕྱེ་བ། ༣༣ - ༣༨

ནང་པའི་རྒྱུད་རྣམས་ཀྱི་དབྱེ་བ་རྣམ་པ་བཞི་ཡོད་པ་ནི་ཐམས་ཅད་ཀྱིས་མཁྱེན་གསལ་རེད། དེ་དག་ལས་བླ་མེད་ཀྱི་རྒྱུད་ལ་ཡང་ཕ་རྒྱུད་དང་མ་རྒྱུད། གཉིས་མེད་ཀྱི་རྒྱུད་བཅས་སུ་དབྱེ་བ་མཛད་ཡོད། བླ་མེད་རྒྱུད་ཀྱི་ནང་གསེས་དབྱེ་བ་འདིའི་སྐོར་ལ་ནང་པའི་རྒྱུད་ཀྱི་རྩ་གཞུང་དང་རྒྱ་གར་གྱི་སློབ་དཔོན་རྣམས་ཀྱིས་མཛད་པའི་གཞུང་རྣམས་སུ་དམིགས་བསལ་གྱི་སྤྲོས་པ་བྱས་པ་ཐོབ་ཀྱི་མེད། བླ་མེད་རྒྱུད་ལ་ནང་གསེས་དབྱེ་བའི་སྐོར་རྒྱས་པར་བོད་ཀྱི་སློབ་དཔོན་རྣམས་ཀྱིས་བསྟན་ཡོད། རྩོམ་སྒྲིག་འདིའི་ནང་བོད་ཀྱི་སློབ་དཔོན་རྣམས་ཀྱིས་མཛད་པའི་གཞུང་རྣམས་ལ་གཞིར་བྱས་ནས་རྒྱུད་འདི་གསུམ་གྱི་མཚན་ཉིད་ཀྱི་འགྲེལ་བརྗོད་ཁ་གསལ་ཞུ་རྒྱུའི་འབད་བརྩོན་བྱས་ཡོད།

ནང་པའི་རྒྱུད་དུ་སྐྱེ་འགྲོའི་དྲི་མ་མེད་པའི་འོད་གསལ་གྱི་རང་བཞིན་ཁྱད་པར་ཅན་གྱི་རྣལ་འབྱོར། ༣༩ - ༦༣

ང་ཚོའི་ལུས་ལ་ཆེས་ཕྲ་བའི་དྲི་མ་མེད་པའི་འོད་གསལ་གྱི་ཆ་གནས་ཡོད་པ་དེ་ང་ཚོས་རྟོགས་མི་ཐུབ་ཅིང་སྣང་ཡང་མི་ཐུབ། ང་ཚོར་ཤ་དང་རུས་པ། ཐིག་ལེ་དང་ཁྲ་ཁྲག་གི

རང་བཞིན་ཅན་གྱི་ཟག་བཅས་ཀྱི་ལུས་པོ་ན་སྣང་། རྒྱུད་གཞུང་ནང་བཤད་པའི་དྲི་མ་མེད་པའི་འོད་གསལ་རང་བཞིན་གྱི་ལྷའི་སྐུ་དང་ལྷའི་དཀྱིལ་འཁོར་བསྒོམ་པར་བྱེད་པ་དེ་ཉིད་རབ་ཀྱི་མཐར་ཐུག་པའི་གནས་སྐབས་སུ་གཟུགས་སྐུར་འགྱུར་བ་ཡིན། རང་ཉིད་པོ་ནའི་ལུས་ཙམ་དུ་མ་ཟད་དངོས་པོ་ཐམས་ཅད་ཀྱི་ནང་དྲི་མ་མེད་པའི་ཆ་གནས་ཡོད། རྒྱུད་ཀྱི་ལམ་པོ་ན་ལ་བརྟེན་ནས་འགྲོ་བའི་རྒྱུད་ཀྱི་དྲི་མ་མེད་པའི་རང་བཞིན་ཡོངས་སུ་རྟོགས་ཐུབ་པ་ཡིན། ཐུན་མོང་མ་ཡིན་པའི་རྒྱུས་གཟུགས་ཀྱི་སྐུ་སྒྲུབ་པ་ནི་གསང་སྔགས་ཀྱི་ཐེག་པའི་ཐུན་མོང་མ་ཡིན་པའི་ཁྱད་ཆོས་ཡིན། འདིར་མདོར་བསྡུས་ཏེ་རྣལ་འབྱོར་འདིའི་སྐོར་བཀོད་ཡོད།

ཆེས་དཀོན་གསུང་རབ་ཁག་གི་རྩ་བའི་མ་དཔེ། ༤༣ - ༦༩

འགོ་བརྗོད་འདིའི་འོག་དྷཱིཿདུས་དེབ་འདོན་ཐེངས་ཉེར་དྲུག་པའི་ནང་གལ་ཆེའི་ཆོས་ཚན་ལག་བྲིས་མ་ང་དྲུག་གི་སྐོར་བཀོད་ཡོད། དུས་དེབ་འདོན་ཐེངས་འདིའི་ནང་གསུང་རབ་ལག་བྲིས་མ་གཞན་གོ་བཞིའི་གནས་ཚུལ་བཀོད་ཡོད།

དབང་གི་ཕན་ཡོན། ༧༠ - ༧༤

རྒྱུད་སྡེ་ཚོགས་པ་ལ་མཆོག་དམན་གྱི་ཁྱད་པར་ཡོད་པ་ལྟར་དབང་ལའང་སྡེ་ཚན་གོ་རིམ་ལོགས་སུ་ཕྱེ་ཡོད། བུམ་དབང་གི་ཚོ་ག་ནི་བྱ་རྒྱུད་སོགས་རྒྱུད་བཞི་ཀའི་ནང་གང་འཆམས་ཞིག་ཐོབ་ཀྱི་ཡོད། འོན་ཀྱང་ལྷག་མ་གསང་བའི་དབང་སོགས་ཀྱི་ཚོ་ག་རྣམས་རྣལ་འབྱོར་བླ་མེད་རྒྱུད་པོ་ནའི་སྒོམ་པའི་ཐབས་དང་སྒྲུབ་པ་པོའི་ཆེད་དུ་ཡིན་གྱི། རྣལ་འབྱོར་ལ་སོགས་པ་རྒྱུད་ལྷག་མ་གསུམ་གྱི་སྒྲུབ་པ་པོ་རྣམས་ཀྱི་ཆེད་དུ་མ་ཡིན་ནོ།།

རྩོམ་བྲིས་ཆུང་ངུ་འདིའི་ནང་དབང་གི་རང་བཞིན། དོན། སྡེ་ཚན་དུ་ཕྱེ་བ། དབང་མ་ཐོབ་པར་རྒྱུད་ཉམས་སུ་ལེན་པའི་ཉེས་པ་དང་དབང་གི་ཕན་ཡོན་ཐོག་གསལ་ཁ་ཕུས་ཡོད།

དབུ་མ་པའི་སྟོང་ཉིད་ཀྱི་ལྟ་བ་དང་ཡོན་ཏན་མེད་པའི་ཚངས་སྨྲའི་དབར་མཚུངས་བསྡུར་དཔྱད་གཏམ། ༧༥ - ༨༦

དབུ་མ་པའི་སྟོང་ཉིད་ཀྱི་ལྟ་བར་ཚིག་དོན་ལྟར་གྱི་སྟོང་པ་སྨྲ་བར་འདོད་པ་དང་། དེ་བཞིན་ཡོན་ཏན་མེད་པའི་ཚངས་པ་སྨྲ་བ་ལའང་སྟོང་པར་སྨྲ་བའི་ཁོངས་སུ་བཅུག་ནས་གྲུབ་མཐའ་འཛིན་པ་འགས་ལྟ་བ་གཉིས་པོ་གཅིག་ཏུ་འདོད་པའི་འབད་བརྩོན་བྱས་ཡོད། འོན་ཀྱང་རྩིམ་བྲིས་པ་འདིས་དབུ་མ་པའི་སྟོང་ཉིད་དང་ཡོན་ཏན་མེད་པའི་ཚངས་པར་སྨྲ་བ་གཉིས་པོ་སོ་སོར་རང་རང་གི་ཆེ་བ་ཡོད་པ་དང་། །དེ་གཉིས་ཀྱི་ཁྱད་ཆོས་རྣམས་མེད་པ་བཟོས་ནས་ལྟ་བ་དེ་གཉིས་པོ་གཅིག་ཏུ་འདོད་པ་ནི་དེ་གཉིས་ཀ་ལ་ཆེས་མི་རིགས་པ་ཡིན། ཨུཔནིཥད་རྣམས་ཀྱི་ཤུགས་རྐྱེན་ལྟ་བ་གཉིས་པོར་དངོས་ཤུགས་གཉིས་ཀའི་སྒོ་ནས་བྱུང་བ་ཡོད་པ་ཙམ་ནི་ཁས་ལེན་རུང་། འོན་ཀྱང་ལྟ་བ་གཉིས་པོ་གཅིག་ཏུ་འདོད་ཐབས་བྱས་པ་འདིས་ང་ཚོའི་གྲུབ་མཐའི་བརྒྱུད་རིམ་ལ་ཕན་པ་ལས་གནོད་ཆེ་བར་བྱེད་པ་ཡིན།

ཆགས་པ་ཆེན་པོའི་འདོད་ཚུལ། ༨༧ - ༩༩

ནང་པ་སངས་རྒྱས་པ་རྣམས་དེ་ཁོ་ན་ཉིད་ཀྱི་གནས་ལུགས་ལ་ཇི་ལྟ་ཇི་ལྟར་བསམ་པ་རྒྱས་པར་གྱུར་པ་ན་དེ་ལྟ་དེ་ལྟར་དེ་ཉིད་མཆོག་ཏུ་འཕགས་པར་གྱུར། མཆོག་ཏུ་གྱུར་པའི་གནས་སྐབས་ཀྱི་ལྟ་བ་འདི་ནང་པའི་རྒྱུད་ཀྱི་སྒྲུབ་ཐབས་དང་གཞུང་རྣམས་སུ་ཐོབ་ཀྱི་ཡོད། ནང་པའི་ཐེག་པ་ཆེན་པོ་ཡོངས་རྫོགས་ཀྱི་ཐོས་བསམ་གྱི་གཞི་རྟེན་སྙིང་རྗེ་དང་ཤེས་རབ་ཡིན། ཇི་ལྟར་སྙིང་རྗེ་ནི་མངོན་མཐོ་སྒྲུབ་པའི་ཐབས་ཡིན་པ་བཞིན་དེ་ཁོ་ན་ཉིད་རྟོགས་པའི་ཤེས་རབ་ཀྱང་ངེས་ལེགས་ཐོབ་པའི་ཐབས་ཡིན། དེ་གཉིས་ཟུང་དུ་འཇུག་པའི་ཚུལ་ནི་རྡོ་རྗེ་ཐེག་པའི་ཐོས་བསམ་ཉམས་ལེན་གྱི་གནས་མཐར་ཐུག་པ་ཡིན། སྙིང་རྗེ་ཆེན་པོས་འཁོར་བའི་སེམས་ཅན་རྣམས་ཀྱི་སྡུག་བསྔལ་ལ་གཟིགས་ཏེ་དེ་དག་རྡོ་རྗེ་འཆང་གི་གོ་འཕང་ལ་འགོད་པའི་ཟློག་ཏུ་མེད་པའི་འདོད་པ་ཉིད་ནི་ཆགས་པ་ཡིན། ཆགས་པ་འདི་ཐུན་མོང་བའི་ཆགས་པ་ལས་ཁྱད་པར་དུ་འཕགས་པས་དེ་ལ་ཆགས་པ་ཆེན་པོ་ཞེས་བརྗོད་པ་ཡིན། ཆགས་པ་ཆེན་པོའི་རྒྱུ་ཉིད་ཀྱིས་འཇིག་རྟེན་ན་སེམས་ཅན་གྱི་དོན་དུ་ཆགས་པའི་སྤྱོད་པ་བསྟེན་

བཞིན་དུའང་ཆགས་པས་མ་གོས་པར་གནས་པ་ཡིན། རྒྱུད་གཞུང་རྣམས་སུ་གདན་ལ་ཕབ་པའི་ཆགས་པ་ཆེན་པོ་འདི་ཉིད་ཀྱི་སྐོར་ལ་འདིར་གསལ་བཤད་བྱས་ཡོད།

ཧེ་རུ་ཀ་སོགས་རྡོ་རྗེ་ཕག་མོའི་རྣལ་འབྱོར་མཆོག་གི་རྒྱལ་པོ་
གསང་བ་དམ་པ། ༦༥ - ༡༣༨

དུས་དེབ་འདོན་ཐེངས་འདིའི་ནང་ཧེ་རུ་ཀ་སོགས་རྡོ་རྗེ་ཕག་མོའི་རྣལ་འབྱོར་མཆོག་གི་རྒྱལ་པོ་གསང་བ་དམ་པ་ཞེས་བྱ་བའི་གཞུང་འདི་ཞུས་བསྒྲིགས་བྱས་ཏེ་པར་སྐྲུན་ཞུས་ཡོད། གཞུང་འདི་རྩ་བའི་མ་དཔེ་ཁག་བཞི་དང་། ཡི་ཤེས་འབྱུང་བ། དཔྱིད་ཀྱི་ཐིག་ལེ་དང་རྣལ་འབྱོར་མ་ཀུན་དུ་སྤྱོད་པའི་རྒྱུད་ཅེས་སོགས་ཀྱི་གཞུང་ལ་གཞི་བཅོལ་བྱས་པ་ཞིག་ཡིན། དེ་ལྟར་གཞུང་འདིའི་ནང་ཧེ་རུ་ཀ་སོགས་རྒྱུད་གཞུང་མང་པོ་དང་འབྲེལ་བའི་རྣལ་འབྱོར་མཆོག་གི་བསྡུས་པ་ཡིན་པའང་གཞུང་འདིའི་མཚན་བྱང་ཉིད་ལས་རྟོགས་ཐུབ། པར་བསྐྲུན་མཛད་པའི་གཞུང་འདི་རྩ་རྒྱུད་ཡིན་པ་ནི་མི་མངོན་ལ། ཧེ་རུ་ཀ་དང་འབྲེལ་བའི་བརྗོད་གཞི་མང་པོ་ཞིག་བཏུས་ཏེ་ངེས་བསྟན་བཅུར་བསྡུས་ཏེ་བསྟན་ཡོད།

ABSTRACT OF ARTICLES

Bhagavatstutiḥ *1-4*

The Bhadrakalpāvadāna contains eulogies (*stutis*) by the gods, of the Lord Buddha, of which 6 have been published elsewhere. The stuti by the *Svarvaidya Aświni Kumārs* is being given here. The second *stotra* is the *acala stuti,* the work of Acārya Vanaratna, who played an important role in the enrichment of Buddhist literature.

Introduction to Rare Texts *5-16*

In the present issue, the following five *avadāna* collections are introduced :

1. *Avadānasaṁgraha*
2. *Avadānamālā*
3. *Bhadrakalpāvadāna*
4. *Avadānaratnamālā*
5. *Aśokāvadānamālā*

Samādhi in Buddhist Spiritual Practice *17-24*

It is a speciality of the Buddhist philosophy that the names of all the various *samādhis* comprehended in its purview are mentioned. Who achieved what kind of samādhi and what the result of that was, is culled and presented here from the *Guhyasamājatantra* as an instance. Similar descriptions can be found in other texts and practices as well.

Introduction to Buddhist Tantric Literature (Vajrabhairavatantra) *25-32*

While elucidating the *Kṛṣṇayamāritantra* (*Dhiḥ* 21, pages 29-40) in the context of introducing Buddhist Tantric Literature, tantras of the *Yamāri, Yamāntaka*, and *Bhairava* classes were mentioned; the literature related to *Yamāri* and *Yamāntaka* has already been introduced. Here literature related to the *Vajrabhairavatantra*, of the same class is reviewed.

Divisions of Anuttaratantra *33-38*

The fourfold division of Buddhist tantras is widely known. Of these, the *Anuttaratantra* is further subdivided into *Mātṛtantra* (mother-tantra), *Pitṛtantra* (Father-tantra) and *Advayatantra* (non-dual-tantra). This

internal subdivision of the *Anuttaratantra* does not find particular elaboration in the root texts of Buddhist tantra, or in the works of Indian *acāryas*. Tibetan scholars have, however, elaborated in the context of the subdivision of the *Anuttaratantra*. In the present essay, an attempt has been made to present a qualitative review of the three subdivisions on the basis of the writings of Tibetan scholars.

The Special Yoga of the Divine Untainted Form of the World in Buddhist Tantra *39-42*

There is an infinitesimal pure untainted divine essence in our body, that we can neither perceive nor understand, for all we perceive is the physical form constituted by flesh and bone. In Tantra, the divine untainted *devakāya* (divine body) and *devamaṇḍala* are meditated upon, and in the ultimate stage transformed into the *rūpakāya* (form body). The divine pure essence is present not only in one's body, but in every substance. This divine pure form of the world can be realised through the path of Tantra alone. The attainment of the special class of *rūpakāya* is a speciality of Tantrayāna. This yoga is presented here in brief.

Sources of Rare Texts *43-69*

Under this heading, in the 26th issue of *Dhiḥ*, information was presented about fifty-six handwritten manuscripts. In the present issue, information about another ninety-four handwritten texts is being given.

The Importance of Initiation *70-74*

Initiations (*abhiṣeka*) are also classified in accordance with the hierarchy of tantras. The practice of the *kalaśa abhiṣeka* can be found more or less in all four tantras, but other initiations like the *guhyābhiṣeka* are only for the practitioners of *Anuttartantra* and not for the practitioners of the other three tantras. In this brief essay, light is thrown on the nature, meaning and classification of initiations, and the flaws that result in spiritual practice in the absence of initiation.

Mādhyamika Śunyatā Philosophy and Nirguṇa Brahmavāda : A Comparative Analysis. *75-86*

Taking the *Mādhyamika Śunyatā* philosophy to mean a literal kind of *śunyatā* (emptiness), and putting *Nirguṇa Brahmavāda* in a similar framework of 'emptiness' some philosophers have tried to compare the two; the author of the present essay believes that each of the two

philosophies is great in its own right. To ignore the particularities of the two, and to consider them identical is to do injustice to both. It may be accepted that both have directly or indirectly been influenced by the Upaniṣads, but to attempt to equate the two can only harm our philosophical tradition.

The Concept of Mahārāga *87-94*

As Buddhist metaphysics developed, it gradually reached a very high stage of development. Evidence of the philosophical underpinnings of this high stage of development is to be found in Buddhist philosophy and spiritual practice. The basis of the entire Mahāyāna Buddhist thinking lies in *prajñā* (wisdom) and *karuṇā* (compassion). While *karuṇā* is the means to attain *abhyudaya*, *prajñā* through elemental knowledge is the means to *naiḥśreyas.* The non-duality of the two is a profundity of Vajrayāna thought. *Rāga* is the irrepressible desire, motivated by *mahākaruṇā,* that manifests to free sentient beings and elevate them to the state of *vajradhara*. Being distinct from conventional *rāga* (attachment), it is known as *mahārāga.* It is due to *mahārāga*, that the practitioner working for the wellbeing of sentient beings can, even when manifesting behaviour of attachment, actually remain free of *rāga* (attachment). This *mahārāga*, as described in the tantra, is analysed here.

Herukādyavajravārāhīyogarājottamaparamarahasya *95-138*

The text entitled *Herukādyavajravārāhīyogarājottamaparamarahasya* is being presented in this issue after having been edited with the aid of four manuscripts, and also *Jñānodaya, Vasantatilaka, Yoginīsañcāra* etc. As its title indicates, this text is a compendium of excellent *yoga*s connected with *Heruka* and other tantras. The text presented does not seem to be a tantra in its own right; several subjects related to *Heruka* have been collected and placed under ten chapters.

•